चतुर्थ अध्याय

रंगमंचः उद्भव अवधारणा और विकास : भारतीय एवं पाश्चात्य

भारतीय रंगमंच का उद्भव– भारतीय रंगमंच पर प्रकाश डालने वाला भरत मुनि कृत "नाट्यशास्त्र' सर्वप्रथम कृति है। उनकी रंगमंचीय अवधारणा के मूल में धार्मिक भाव प्रेरक तत्व है। इसके उद्भव में यज्ञों का प्रमुख योगदान रहा है। भरत का 'नाट्यशास्त्र इस प्रमाण की पुष्टि करता है।[1] उनके वर्णनों के अनुसार जब सर्वप्रथम नाटक का अभिनय प्रारम्भ हुआ तब वहां एकत्रित दानव क्रुद्ध हो गये एवं उसे असफल बनाने के लिये विभिन्न प्रकार का उत्पात मचाना प्रारम्भ कर दिया। अभिनय में बाधा उत्पन्न हो गई। सूत्रधार एवं अन्य अभिनयकर्ता की चेतना ही जाती रही। तत्पश्चात इन्द्र ने अपने उत्तम ध्वज के द्वारा रंगपीठ पर उपस्थित असुरों को मार–मार कर जर्जर कर दिया।[2] तदुपरान्त ब्रह्मा के पास सभी देवता गये और तब ब्रह्मा ने सर्वगुण सम्पन्न नाट्य गृह की रचना का आदेश दिया। विश्वकर्मा ने सर्वगुण युक्त नाट्य–मण्डप की रचना की। तदन्तर ब्रह्माजी ने नाट्यगृह की रक्षा के लिये

---

[1] एवं नाट्यमिदं सम्यग बुद्धवा सर्वे सुतैः सह।
स्वतिनारदसंयुक्तो वेद–विदांगकारणम् ।।51।।
उपस्थितोऽहं ब्राह्मण प्रयोगार्थं कृजांजलिः।
नाट्यस्य ग्रहणं प्राप्तं बूहि किं करवाव्यहम्।।52।।
एततु वचनं श्रृत्वा प्रत्युवाच पितामहं।
महानयं प्रयोगस्य समयः प्रत्युपस्थित ।।53।।
अयं ध्वजमहः श्रीमान् महेन्द्रस्य प्रवर्तते।
अत्रेदानीमयं वेदो नाट्यसंज्ञः प्रयुज्यताम्।।54।।
ततस्तस्मिन् ध्वजमाहे निहतासुर दानवे।
प्रहृष्टामर सङ्कीणे महेन्द्राविजयोत्सव।।55।।

भरतमुनिः नाट्यशास्त्र, प्रथमोध्याय, श्लो. 51–55

[2] उत्थाय त्वरितं शक्रः गृहीत्वा ध्वजमुत्तमम्।
सर्व रत्नोज्जवलतनुः किन्चिवदृद्धृत लोचनः ।।69।।
रंगपीठगतान विध्नानसुराश्चैव देवराट्।
जर्जरीकृत देहास्तानकरोज्जर्जरेणसः।।70।।

भरतमुनिः नाट्यशास्त्र, प्रथमोध्याय, श्लो. 69–70

विभिन्न देवताओं को विभिन्न स्थानों पर नियुक्त किया। यथा मण्डप की रक्षा के लिये चन्द्रमा को, नेपथ्य भूमि की रक्षा के लिये सूर्य को, आकाश में वरूण, रंगवेदी में अग्नि एवं वाद्यों की रक्षा के लिये मेघों को नियुक्त किया।[1]

इसी वर्णन में भरत ने रंगशालाओं की स्थिति की ओर भी प्रकाश डाला है। 'नाट्यशाास्त्र' के अन्तर्गत आकार और परिमाण के आधार पर तीन प्रकार की रंगशालाओं (रंगमंच) का वर्णन किया है। इनमें भिन्न–भिन्न प्रकार के नाटकों के अभिन्य किये जाने का संकेत भी भरत है। यथा देवताओं के अभिनय के लिये ज्येष्ठ मण्डप (प्रेक्षागृह) राजाओं के लिये मध्यम और सामान्य लोगों के अभिनय के लिये कनिष्ठ प्रेक्षागृह का उल्लेख किया है।[2] उपर्युक्त नाट्य–मण्डलपों की परिमाण भी नाट्यशास्त्र प्रस्तुत करता है। परिमाणों की आवश्यकता इसलिए हुई कि अपरिमाणिक रंगमंच में दृश्यों का स्पष्ट न होने तथा स्वरों के उचित निधार्रण न होने का भय बना रहता।

आकार के आधार पर ये रंगशालाएं तीन प्रकार की होती थी– विकृष्ट (आयताकार), चतुश्र (वर्गाकार), त्रयश्र (त्रिभुजाकार) और इन प्रकार के ज्येष्ठ, मध्यम तथा अवर तीन प्रकार के परिणाम है।[3] ज्येष्ठ मण्डप, एक सौ आठ हाथ, मध्यम चौसठ हाथ और कनिष्ठ बत्तीस हाथ का होता है।[4]

---

[1] ततश्च विश्वकर्माणं ब्रह्मोवाच प्रयत्नतः।
कुरू लक्षण सम्पन्नं नाट्यवेशम महामते।। 79।।
ततो अचिरेण कालेन विश्वकर्मा मध्च्दुभम्।
सर्वलक्षणसम्पन्नं कृत्वा नाट्यगृहं तृ सभः।।80।।
....
रक्षणे मण्डपस्याथ विनियुक्तास्तु चन्द्रमाः।।
लोकपालस्तथा दिक्षु विदिश्वीय च मरूताः। 84।।
नेपथ्यभूमौ मित्रस्तु निक्षिप्तो वरूणोऽम्बरे।।
वेदिकारक्षण बह्मि भण्डि सर्वे दिर्वाकराः।।85।।
वहीं, प्रथमोध्याय, श्लो. 51–55

[2] देवानान्तु भवोज्जयेष्ठं नृपाणां मध्यम। भवेत्।
शेषाणां प्रकृतिनान्तु कनीयः संविधीयते ।।11।।
भरतमुनिः नाट्यशास्त्र, द्वितीयोध्याय, श्लो. 11

[3] विकृष्टचतुरश्रश्च्य त्रयेश्रश्चैव तु मण्डपः।
तेषां त्रीणि प्रमाणानि ज्येष्ठं मध्यं तथावरम्।।
भरतमुनिः नाट्यशास्त्र, द्वितीयोध्याय, श्लो. 8

[4] अष्टाधिकंशतं ज्येष्ठं चतुः षष्ठिस्तु मध्यम्।

अभिनय शिल्प के आधार पर भरत ने मध्यम प्रेक्षागृह को सर्वोत्तम माना है।[1] क्योंकि मध्यम प्रेक्षागृह में पाठ्य एवं गेय अंश स्पष्ट सुनाई देते है और दृश्य अंश स्पष्ट दिखाई देते है। उनमें न तो संकीर्णता रहती है और न ही अधिक विस्तार।

रंगमंच के निर्माण के लिये शुभ मुहुर्त में आधारशिला रखी जाती थी। भूमि को ज्योतिषियों द्वारा अच्छी तरह दिखा लिया जाता था कि कहीं हड्डी, पत्थर इत्यादि तो नहीं है जो सामान्यतया प्राचीन हिन्दू भवन–निर्माण प्रणाली का एक आवश्यक अंग सा था। रंगमंच के लिये भूमि समतल रखी जाती थी। साथ ही काल विशेष में खम्भों की स्थापना श्रेणी विभाजन का काम करते थे। प्रेक्षा गृह दो भागों में विभक्त होता था। एक ओर प्रेक्षक फुट उंचा होता था। रंगपीठ के अन्तर्गत रंग शीष एवं नेपथ्यगृह भी समाविष्ट रहता था। नेपथ्य से मेघगर्जन, उनकी दीवारे साफ सुथरी एवं चित्रयुक्त होती थी। रंगमंच पर छिपने के स्थान, आकाश महल एवं झरोखे भी बना होते थे।[2] "वर्तमान नाटकों की भॉति अंक एक बार में ही समाप्त नहीं हो जाता था, बल्कि संध्या की लालिमा की भॉति धीरे–धीरे रंग बदलता था। चाहे देश, काल और कार्य में परिवर्तन होता रहे, किन्तु अंको, दृश्यों में नहीं बंटा होता था।[3]

भारतीय रंगमंच की अवधारणा

नाटक मानवीय संवेदनाओं की अभिव्यक्ति का सबसे सशक्त माध्यम है और रंगमंच संवदेनाओं को प्रेक्षक तक पहुंचाने का एक समर्थ साधन। मनुष्य की यह सनातन प्रवृत्ति रही है कि वह अपने भावों, विचारों को एक दूसरे तक

कनीयस्तु तथा वेश्म हस्ता द्वात्रिंशदिष्यते।।
भरतमुनिः नाट्यशास्त्र, द्वितीयोध्याय, श्लो. 10

[1] प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तरमान्मध्यममिष्यते।
यावत पाद्यं च गेयं च तत्र श्रव्यतर भवेत ।।
भरतमुनिः नाट्यशास्त्र, द्वितीयोध्यायः, श्लो. 21

[2] विस्तृत अध्ययन के लिये देखिए भारत : नाट्यशास्त्र, द्वितीयोध्याय।
भरतमुनिः नाट्यशास्त्र, द्वितीयोध्याय, श्लो. 8

[3] बलवंत गार्गीः रंगमंच, प्र.सं0 (अनु. अतुल कुमार भारद्वाज), 1968 पृं.33।
भरतमुनिः नाट्यशास्त्र, द्वितीयोध्याय, श्लो. 8

पहुंचाये। सम्भवतः रंगमंच के मूल में यही अवधारणा है। वस्तुतः नाटक लोकहितकारी मनोविनोद का ऐसा साधन है जो दृश्य भी है और श्रव्य भी। नाटक की उत्पत्ति के समय महेन्द्र इत्यादि देवताओं ने ब्रह्मा से ऐसा ही मनोविनोद का साधन मांगा था जो दृश्य और श्रव्य दोनों हो।[1]

इस साधन के दृश्य होने का अर्थ रंगमंच है। रंगमंच के अभाव में विधा का दृश्य होना असंभव है। इस प्रकार नाटक की उत्पत्ति के साथ ही रंगमंच का भी अविर्भाव हुआ।

रंगमंच जीवन की घटनाओं को सजीव रूप मे उपस्थित करता है। प्रेक्षक के समक्ष घटनायें वास्तविक रूप से घटित होती है। रंगमंच के माध्यम द्वारा प्रेक्षक की भावनायें मुख्य रूप से उत्तेजित होती है और उसमें तत्त्सम्बन्धी संवेदनाओं संवेदनासें उभर आती है जिसे भरतमुनि ने साधारणीकरण कहा है जिसके मूल में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों का संयोग रहता है। और जिससे प्रेक्षक के हृदय में रस की निष्पत्ति होती है। इसी आशय का समर्थन दशरूपककार ने भी किया है।

हिन्दी में रंगमंच के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए नेमिचन्द्र जैन ने लिखा है कि '.....रंगमंच कलात्मक अभिव्यक्ति का ऐसा माध्यम है जिसमें मनोरंजन का अंश अन्य कलाओं की तुलना में अपेक्षाकृत सबसे अधिक है। रंगमंच पर प्रदर्शित नाटक प्रेक्षकों का रंजन करके ही सम्पूर्ण और सफल होता है और अपना उद्देश्य पूरा करता है, किन्तु वह मनोरंजन का ऐसा साधन और कलात्मक अभिव्यक्ति का ऐसा रूप है जिसके द्वारा हम जीवन की नानाविद् अनुभूतियों का ..... श्रृद्रतम भावोवेगों तथा भावदशाओं और उनके विविध शारीरिक तथा अन्य मानसिक प्रभावों का, लगभग प्रत्यक्ष रूप से सामना करते है। एक प्रकार से यह सभी कलात्मक अभिव्यक्तियों के अनुशीलन द्वारा होता

---

[1] महेन्द्र प्रमुखैदैवेरूक्तः किल पितामहः।
क्रिडनीयकमिच्छामों दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत्।।
भरत मुनिः नाट्यशास्त्र, प्रथमाध्याय, श्लो. 8

है, पर जितनी तीव्रता से, तथा जितने व्यापक रूप में, अधिक से अधिक व्यक्तियों का एक साथ, यह रंगमंच पर नाट्यभिनय द्वारा होता है उतना और कहीं नहीं।"[1]

डॉ0 लक्ष्मीनारायण लाल ने रंगमंच को मानव की एक आदिम प्रवृत्ति माना है जिसके बिना वह कभी नहीं रह सकता जो सनातन सत्य है, "रंगमंच एक मानव प्रवृत्ति है– अनिवार्य, आदिम सत्य जिसकी तुलना मानव संस्कृत मे उपलब्ध कोई अन्य विभूति नहीं कर सकती।"[2]

डा. लक्ष्मीनारायण लाल ने रंगमंच कोएक अमूर्त सत्य माना है। रंगमंच पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है कि "रंगमंच एक भाव है– एक अनुभूति है, जिसकी अपनी असीम व्यापकता और गहराई है। इसके मूल भाव और इसकी सम्पूर्ण प्रवृत्ति के साथ मनुष्य जन्म लेता है।"[3] साथ ही लाल ने रंगमंच की प्रकृति को भी स्पष्ट करने की चेष्ठा की है, अपने प्रत्यक्ष अर्थों में रंगमंच किसी विशेष वस्तु को अभिनय द्वारा प्रदर्शन करने की कला है। इसके लिए न किसी विशेष रंगभवन की आवश्यकता है न मंच की, न किसी रंगशिल्प की। क्योंकि रंगमंच की प्रतिष्ठा, इसकी रचना, इसका प्रयोग कहीं भी किसी भूमिखण्ड पर हो सकता है। वस्तुतः यही रंगमंच की मूल प्राकृति है।[4]

रंगमंच बुनियाद तौर पर जीवन और जगत की व्याख्या करता है। यह मनुष्य की भावात्मक एकता का सबल एवं सशक्त माध्यम है। "रंगमंच वास्तव में हमारे मूल आदिम आवेगों और प्रवृत्तियों को जागृत करके उन्हें एक सामूहिक सूत्र में बांधता है और इस प्रकार किसी भी समाज को एकीकृत और संगठित करने में उसका बड़ा योग हो सकता है।"[5]

---

[1] नेमिचन्द्र जैनः रंगदर्शन, प्र.सं. 1967 ई. पृ. 10।
भरतमुनिः नाट्यशास्त्र, द्वितीयोध्याय, श्लो. 8

[2] डा0 लक्ष्मीनारायण लालः रंगमंच और नाटक की भूमिका, प्र.सं. 1965 पृ.11।
[3] वहीं. पृ. 11।
[4] वहीं, पृ.11
[5] नूमिचन्द्र जैनः जैनदर्शन, प्र.सं. 1976, पृ.10।

भारतीय रंगमंच का विकास

संस्कृत रंगमंच

संस्कृत रंगमंच के मूल यज्ञ का स्थान उल्लेखनीय है। यज्ञ के माध्यम से ही संस्कृत रंगमंच विकसित हुआ। मूलरूप से संस्कृत रंगमंच के विकास में धर्म और इतिहास का समन्वय है। पौरस्त्य और प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में अनेक सूत्र ऐसे है जिनमें एक से अधिक वक्ताओं की परम्परा है। इसीलिए इनको संवाद सूत्र कहा गया है। इन संवादों में यम–यमी, पुरूरवा–उर्वशी, इन्द्र–इन्द्राणी[1] आदि के संवाद महत्वूपर्ण है। संस्कृत रंगमंच का विकास यहीं से प्रारम्भ हुआ। कात्यायन क्षौतसूत्र में सोमपान के अवसर पर एक लघु अभिनय का भी संयोजन किया गया है।[2] तत्कालीन अभिनय प्रणाली पर यह संवाद प्रकाश डालता है। सोम खरीदने वाला–

"सोम राजा बेचोगे।"

"बिकेगा।"

"तो लिया जायेगा।"

"ले लो।"

"गौ की एक कला से उसे लूंगा।"

"सोम राजा इससे अधिक मूल्य के योग्य है।[3]

....

इस प्रकार 'सोमक्रयण' और 'महाव्रत' के प्रसंगों में पर्याप्त नाटकीयता है। इस अभिनय का प्रदर्शन कुछ समय तक होता रहा, "सम्मत इति सोमविक्रयिणं हिरण्येनाभि कम्पयति।" प्रो0 मैक्समूलर, प्रो0 सैलवेन लेवी इत्यादि विद्वानों ने वैदिक काल के इन्हीं सूत्रों के द्वारा अभिनय के प्रारम्भिक रूप को स्वीकार किया है। वैदिक मंत्र ही नाटकीय तत्वों को धार्मिक अवसरों पर प्रस्तुत

---

[1] ऋग्वेद, पुरूखा उर्वशी संवाद, 10/95, यम–यमी संवाद, 10/10, इन्द्र–इन्द्राणी संवाद, 10/86
द्रष्टव्य, डा0 दशरथ ओझाः हिन्दी, नाटक, उद्भव और विकास, अध्याय–1।

[2] कात्यायनः श्रीतसूत्र, 7/8/25।

[3] जयशंकर प्रसादः काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध।

करते रहे। यजुर्वेद संहिता में शैलूष जाति को व्यवसाय रूप में नाटक करने वाली जाति माना गया है।[1]

वैदिक साहित्य के अतिरिक्त प्राचीन काल के व्यापकरण एवं अन्य संस्कृत ग्रंथों में नाटक एवं अभिनय का उल्लेख मिलता है। पाणिनी (ईसा पूर्व पांचवी शताब्दी) ने अपने एक सूत्र में नाटक का उल्लेख किया है। महाभाष्यकार पातंजलि ने 'बालिवध' और 'कंसवध' नामक नाटकों के अभिनय का आंखो देखा वर्णन प्रस्तुत किया है। अपने कामसूत्र में वात्सयायन ने मनोरंजन के साधनों में नाटक देखने पर विशेष बल दिया है।

रामायण[2] महाभारत, हरिवंश पर्व इत्यादि धर्मग्रन्थों में नट–नटी तथा नर्तकों का उल्लेख मिलता है।[3] कौटिल्य का अर्थशास्त्र भी तत्कालीन नटों की दैनिक परिचर्या प्रस्तुत करता है जिससे ज्ञात होता है कि अभिनय द्वारा जीवकोपार्जन भी किया जाता था।[4]

नाट्यशास्त्र के अनुसार भरत ने अपने सौ पुत्रों और अप्सराओं के साथ सर्वप्रथम महेन्द्र ध्वजपूजन के अवसर पर 'समुद्रमंथन' नामक नाटक का अभिनय किया।[5]

बौद्ध साहित्य में भी नाटकों के अभिनय की चर्चा है। इस काल में नाटकों का सम्बन्ध धार्मिक क्रियाओं से अविछिन्न हो गया था। नाटकों का अभिनय मनोरंजनार्थ होता था। ललितावस्तार के अनुसार बिम्बसार ने दो नाग राजाओं के सम्मान में नाटकों का अभिनय कराया था। सूत्र एवं जातक साहित्य में भी नाटकों का उल्लेख है।

---

[1] यजुर्वेद संहित, 30/6

[2] नटनर्तसङ्घानां गायकानां च गायताम्।
यतः कर्णसुख वाचः सुश्राव जनता ततः।।
वाल्मीकी रामायण

[3] महाभारत, हरिवंश पर्व, अध्याय 91–97।

[4] देखिये, कौटिल्य, अर्थशास्त्र, अध्याय 27–41।

[5] तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा यथा दैतयाः सुरैर्जिता।
सम्फेटविद्रवकृता च्छद्यभेद्याहवात्मिका।।
नाट्यशास्त्र, प्र.अ.. 57।

आधुनिक परिवेश

स्वतंत्रता के बाद संस्कृति नाटकों का अभिनय कुछ नाट्य संस्थाओं द्वारा होने लगा संस्कृत नाटकों को निर्देशक नवीन कलात्मक तत्वों के साथ प्रस्तुत करने लगे। उनका पुनर्मूल्यांकन होने लगा। इस रूप में शूद्रक का 'मृच्छकटिक', 'मिट्टी की गाड़ी' नाम से कई बार प्रदर्शित किया गया। कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' का भी 'शकुन्तला' नाम से कई बार प्रदर्शन हुआ। सन् 1954 ई. के प्रथम राष्ट्रीय नाट्य उत्सव में संस्कृत के 'शकुन्तला' नाटक का अभिनय हुआ। नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा (दिल्ली) ने भास के प्रसिद्ध नाटक 'मध्यम व्यायोग' का सफल प्रदर्शन किया। 'मृच्छकटिक' का कथानक लोकतत्वों पर आधारित होने के कारण लोकप्रिय है। बलवंत गागी ने अपनी 'रंगमंच' नामक पुस्तक में लिखा है कि "इसको न्यूयार्क, पेरिस, ओस्लो और यूरोप के अन्य नगरों में प्रदर्शित किया गया। सन् 1957 ई. में मैने इसे मास्को पुस्किन थियेटर में देखा। वहां इसका नाम 'श्वेत कमल' था। सम्पूर्ण नाटक को संक्षिप्त कर दिया गया था।.....।"[1]

पाश्चात्य रंगमंच का उद्‌भव

पाश्चात्य रंगमंच के प्रादुर्भाव के मूल में भी धार्मिक उत्सवों का ही प्रमुख योगदान है। यूनान में भी रंगमंच का अविर्भाव धार्मिक उत्सवों से हुआ।[2] धार्मिक उत्सवों के अवसर पर डायोनिसस और बेकस देवता की पूजा होती थी। लोग बसंत और शीतकाल में पूजा के ये उत्सव मनाया करते थे। पुरोहित देवता का रूप धारण करता था और कोरस प्रारम्भ होता था। धीरे–धीरे कोरस संवाद रूप में परिवर्तित हो गया और साथ ही उसमें पात्रों और गीतों का समावेश हो गया। नाटकों के प्रदर्शन के लिये "थियेटर ऑफ डायोनिसस' का निर्माण हुआ तथा स्काइलस, सोफोक्लीज, यूरोपीडिज और एकरिस्टोफेन्स के

---

[1] बलवंत गार्गी: रंगमंच, पृ. 45।

[2] "In Greece, both comedy and tragedy took their rise from religous ceremonials."
Allardce Nicoll : British Drama, pp.14.

नाटकों का अभिनय होने लगा। आगे चलकर नाटकों का विकास कामदी और त्रासदी दो नाट्य रूपों में होने लगा।

पाश्चात्य रंगमंच की अवधारणाः

पाश्चात्य देशों में 'रंगमंच' थियेटर के नाम से जाना जाता है। जिसे स्थान पर नाटकीय मनोरंजन प्रस्तुत किया जाता है उसे यूनान में थियेटर के नाम से अभिहित किया गया है।[1] थियेटर मे यथार्थ अनुकरण का प्रेक्षक को बोध होता है जिससे वह साधारणीकृत होता है।[2]

आज का 'थियेटर' मानव जीवन के आन्तरिक संघर्ष के साथ ही सांसारिक सम्बन्धों एवं घूटनों का चित्रण करता है। केवल चरित्रों का ही अध्ययन नही करता।[3] संभवतः इसी मत की पुष्टि राबर्ट डब्ल्यू कैरिगन ने अपनी पुस्तक 'द माडर्न थियेटर' में की है।[4] शेक्सपीयर ने रंगमंच को दर्पण की संज्ञा प्रदान की है।[5] इसी प्रकार पाश्चात्य देशों में रंगमंच' के लिये ही 'थियेटर' शब्द का प्रयोग किया गया जो नाटक (ड्रामा) की तरह ही व्यापक अर्थ रखता है। इसी आधार पर 'हिन्दू रंगमंच' या 'ग्रीक थियेटर' नाम पड़ा। वस्तुतः रंगमंच में उस समूचे युग के नाटककार अभिनेता, प्रस्तुतकर्ता, निर्देशक,

---

[1] "Theatre the place in which dramatic entertainments are presented (in greek clied theatron) and by extension the comprising both the dramatic performances themeselves and the work of all who are responsible for presenting them to audiences."
Encyclopaedia Britannica, Vol. XXI. pp. 943.

[2] The attention of the beholder is arrested and held by the nature and accuracy of the imitation, while the ability of the imitator is enlarged by knowledge gained from the experience.
Theatre in this most elementary of forms in inarticulate, depending neither on a formal text nor on a formal text nor on improvised speech, known as mine, imitation through gesture and movement of the face and body in common in this state to all peoples and requires only on open space for its enactment.
Encylopaedia Britannica, Vol. XXI, pp. 945.

[3] "Theatre today represents an experimental exploration to the public world of objects and events. But it is not a return to the study of character "
M.C. Brad Book: Englishd dramatic form, A History of Acts development.

[4] "..... the theatre's general pattern of development during this time can be best described as a gradual but steady shift away from universal philosophical and social concerns towards the crises and conflicts of man's inner and private life."
Robert W. Carrigan : The modern Theatre, 1966, intro, P.L.

[5] The purpose of playing, whose end, that first and new, was and is, to held, as I were the mirror upto nature, to show within her own feature, scron her image, and the very age and the body of the time his form and pressure."
Shakerpeare : Hamlet.

सूत्रधार और सामाजिक रसभोगी और उनके देश काल सभी कुछ यहां समन्वित है।[1]

क्रोंचे ने रंगमंच को अधिक महत्व नहीं दिया है। उसका कथन है कि मन पर ही नाटक का प्रभाव मूलरूप से पड़ता है। प्लेटो, अरस्तू इत्यादि प्राचीन विद्वान रंगमंच और नाटक के पारस्परिक सम्बन्ध को स्वीकार करते है। आधुनिक पाश्चात्य नाटककारों ने और नाट्य समीक्षकों ने रंगमंच को मानव जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता बताया है। उनकी दृष्टि में इतना सरल कोई भी माध्यम नहीं जो समग्र रूप से शीघ्रातिशीघ्र मानव जीवन को प्रभावित कर सके। इससे जीवन के हर मोड़ पर कुछ ऐसी आकृतियां उभर आती है जो जीवन और जगत की वास्तविक समीक्षा प्रस्तुत करती है।

पाश्चात्य देशों में जिस प्रकार नाटक का विकास हुआ उसी प्रकार रंगमंचीय टेकनिक का भी। फलस्वरूप आज दुनिया के हर कोने में रंगमंच का एक अनोखा रूप दिखाई पड़ता है।

यूरोपीय देशों में 'थियेटर' की सफलता में प्रेक्षक (ऑडियन्स) का योगदान महत्वपूर्ण माना गया है।[2] फ्रैन्सिस फर्गुसन ने भी इसी महत्व को अपनी पुस्तक 'द आइडिया ऑफ थियेटर' में प्रतिपादित किया है।[3] वस्तुतः रंगमंच की सफलता में नाटक, नाटककार, कलाकार, प्रेक्षक की भूमिकायें समुचित रूप से आवश्यक है।

---

[1] डा0 लक्ष्मीनारायण लालः रंगमंच और नाटक की भूमिका, प्र.सं. 1995 ई., पृ. 5–6।

[2] "Gordon Craig has suggested the we should abandon both play and players, but neither he nor anyone-else has proposed that the audience be alone away with our working definition of the basic concept of theatre was a performance given by one group of person (the actors) before an assembled 'audience' a group of spectators' – and it is the presence of the spectators which provides the first prime characteristic of theatrical endeavour."
Allardcy Nicoll : The Theatre and Dramatic Theory, pp. 15-16.

[3] The great sarcey said that the art of drama can only be understood as that holding an audience in a theatre, beyond that it is merely a subjective matter of taste."
Francis Fergusson: The Idea of the Theatre (1949), pp. 66.

पाश्चात्य रंगमंच का विकास

यूरोपीय रंगमंच का प्रादुर्भाव यूनान में धार्मिक उत्सवों से हुआ। धार्मिक उत्सवों के अवसर पर डायोनिसस और बेकस देवता की पूजा होती थी पुरोहित देवता का रूप धारण करता था और कोरस प्रारम्भ होता था। धीरे–धीरे कोरस में ही संवाद, पात्र, गीत इत्यादि जुड़ गया और नाटक का रूप धारण कर लिया, रंगमंच और अभिनय की परम्परा का जनम यूरोप में यहीं से हुआ। आगे चलकर नाटकों के प्रदर्शन के लिये थियेटर ऑफ डायोनिसस का निर्माण हुआ और स्काइलस, सोफोक्लीज, यूरोपीडीज तथा एरिस्टिोफेन्स के नाटकों का अभिनय होने लगा। साथ ही नाटकों का विकास कामदी और त्रासदी दो नाट्य रूपों में होने लगा।

इस प्रकार ग्रीक रंगमंच का उदय 'थियेटर ऑफ डायोनिसस' से हुआ। ग्रीक रंगमंच को महत्वपूर्ण विकास देने वाला था सोफोक्लीज (495 ई.पू.) जिसने ग्रीक नाटकों के अभिनय में तीसरे चरित्र का समावेश किया और अंतिम महत्वपूर्ण नाटककार हुआ यूरोपीडीज (480–403ई.पू.)। थियेटर ऑफ डायोनिसस' एथेन्स में 'एक्रोपोलिस' पर्वत पर स्थित था। यह अर्धवृत्तकार तथा ऊपर से खुला हुआ था। दर्शकों को बैठने के लिये चट्टाने काटकर सीढ़ियां बनायी गई थी। इसमें 25 से 30 हजार तक दर्शक बैठते थे। वस्तुतः "ग्रीक थियेटर का यह सारा प्रदर्शन रीतिबद्ध था, अभिनय, वस्त्र, रूपसज्जा आदि सभी स्तरों से।"[1]

रोम में रोमन रंगमंच का प्रारम्भ फार्स से हुआ। इसमें हास्य के भद्दे रूप अधिक मात्रा में मिलते है। धीरे–धीरे रोमन थियेटर पर भी ग्रीक थियेटर का प्रभाव पड़ा। रोमन नाटककारों में सीने का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है जिसने नाटकों के कथानक में सामाजिकता और राजनैतिकता को सर्वप्रथम

[1] डा0 लक्ष्मीनारायण लालः रंगमंच और नाटक की भूमिका, प. 159।

स्थान दिया। ईसाईयों और पादरियों को नाटक से मध्यकाल के पूर्वार्द्ध में घृणा सी उत्पन्न हो गई और नाट्य प्रदर्शन पाप समझा जाने लगा। फलस्वरूप नाटकों का प्रदर्शन बंद हो गया। किन्तु पुनः कुछ दिनों बाद मध्यकाल से पादरी ईसाईयों के ही सहयोग से नाटक गिरजाघरों में प्रदर्शित किये जाने लगे और पादरी ईसाईयों के जीवन दर्शन को ही नाटकों की कथावस्तु का माध्यम बनाया गया। धीरे–धीरे नाटकों का कथानक धार्मिक तत्वों का त्याग कर नैतिक धरातल पर उतर आया और उसमें प्रहसन की मात्रा बढ़ गई।

नवजागरण काल में ससरों, होरेस, क्विटिनियन की रचनायें प्रस्तुत हुई। इसमें 'क्लासिकी' धारा का विकास हुआ जो डेढ़ सौ वर्षो तक रहा। सन् 1636 ई. के बाद नियोक्लासिकीय धारा का विकास प्रारम्भ हुआ। इस काल के नाटकों की कथावस्तु में आन्तरिक संघर्ष प्रचुर मात्रा में विद्यमान था। फ्रांस में वाल्तेयर और रासीन इस काल के लेखन हुये जिनके नाटकों में करूण भाव का उदय चारित्रिक दोष के द्वारा दिखाया गया।

स्पेन में लोप और केलेडेरान के सहयोग से एलिजाबेथेन थियेटर के द्वारा रंगमंच का कायाकल्प ही हो गया। एलिजाबेथेन थियेटर जनसाधारण का रंगमंच था। इसमें खेले जाने वाले नाटकों की कथावस्तु जनससाधारण की और सामाजिक थी। यह काल महारानी एलिजाबेथ से मेरी तक रहा। इस काल में दो प्रकार के रंगमंच थे– पहला, पब्लिक थियेटर और दूसरा प्राइवेट थियेटर। वस्तुतः एलिजाबेथ थियेटर शेक्सपीयर का रंगमंच था जिसमें ट्रेजेडी, कामेडी और ट्रेडी कामेडी खेले गये।

शेक्सपीयर के समय में फ्रांस में फ्रेंक क्लैसिकल धाराका विकास हुआ जिसका प्रमुख नाटककार पेरोकोर्निल (1604–1684) हुआ। इस युग में सुखान्तकी नाटककार मोलियर हुआ, "जिसके व्यक्तित्व में शायद पहली बार नाटककार, निर्देशक और अभिनेता के तीनों व्यक्तित्व एकीकृत हुये।"[1] कवि

[1] डा0 लक्ष्मीनारायण लालः रंगमंच और नाटक की भूमिका, पृ. 163–64।

और नाटककार के रूप में कार्निल और रासीन का नाम भी उल्लेखनीय है। सन् 1689 में 'कामेदिया फ्रांस' की स्थापना इस संदर्भ में उल्लेखनीय घटना है।[1]

रेस्टोरेशन थियेटर काल में यथार्थवादी रंगमंच का स्वरूप सामने आया जिसका प्रणेता मध्यमवर्ग, साहूकार ओर नागरिक बना। यह जनसाधारण का रंगमंच था। इसका संरक्षक जनता का प्रत्येक वर्ग बन सकता था और यह आधुनिक युग के पूर्व काल तक जीवन्त रूप में विकसित होता रहा।

ब्रेष्ट का रंगमंच

मुख्य रूप से पाश्चात्य स्वातंत्रयोत्तर रंगमंच को को जिसने नया मोड़ दिया वह है ब्रेष्ट (1998–1956) का रंगमंच। ब्रेष्ट ने महानाटकों की परिकल्पना की। वह बड़े लम्बे नाटकों की रचना करता था जिसका अभिनय कई दिनों तक किया जाता था। ब्रेष्ट नाटक और प्रेक्षक की दूरी को अनिवार्य समझता था। उसका विचार था कि प्रेक्षक यह निर्णय करें जो वह देख रहा है वहँ कहाँ तक सत्य है उसमें यथार्थ का कितना अंश है। ब्रेष्ट के रंगमंच का विकास परम्परा प्रचलित रूढ़ियों को तोड़ कर हुआ, किन्तु महत्वपूर्ण बात तो यह है कि ब्रेष्ट का नाटक नाट्य सिद्धान्त का ही अनुकरण है।

ब्रेष्ट ने अपने नाटकों में अभिनय की रूढ़ियों को तोड़ने के लिये मूक अभिनय, गीत, शैलीबद्ध संवाद और मुखौटो का प्रयोग किया। ब्रेष्ट के रंगमंच पर धीरोदात्त नायकों को स्थान नहीं मिला। उसके नाटक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते है। वह घटनाओं को साकार रूप देकर महानाट्यों के माध्यम से उसका वर्णन करता है। "महानाट्य की विशेषता है कि यह दर्शक के भाव को इतना आन्दोलित नहीं करता है, जितना उसकी बुद्धि को।" वह अपने नाटकों में प्रचलित मुहावरों और लोकोक्तियों को विपरीत अर्थ में प्रस्तुत

---

[1] वहीं, पृ. 167।

करता है। 'आस्था से आदमी पहाड़ हिला सकता है।" के स्थान पर "शंका से आदमी पहाड़ हिला सकता है।"[1]

"ब्रेष्ट के महानाट्य में घटनायें वक्र गति से बढ़ती है, हर दृश्य अपने आप में चित्र के समान पूर्ण होता है और प्रभाव बहुत से छोटे–छोटे दृश्य अंशों से उत्पन्न किया जाता है।"[2] ब्रेष्ट के पात्रों में कठोरता है 'मदर करेज' में मां अपने दो पुत्रों और बेटो को गोली लगने पर भी युद्धभूमि में छगड़े खींचती है। काकेशियन चाक सर्किल में गर्वन की बीबी क्रान्ति हो जाने पर जबकि उसका पति मुसीबत में फंसा है, भागते समय अपने श्रृंगार प्रसाधनों को ले जाना नहीं भूलती। नाटकीय क्षेत्र में 'मदर करेज' और 'हर चिल्ड्रेंन' ब्रेष्ट की प्रमुख खोज है।[3]

'कार्केशियन चाक सर्किल' में 'आरजक' का न्याय बहुत ही उत्कृष्ट है। बच्चे की असली मां वह नहीं जिसने उसे पैदा किया है बल्कि ग्रसा जिसने कष्ट झेलकर भी उसका प्राण बताया है, उसको पालती रही जिससे वह बच्चा प्यार करता है और इसमें एक दार्शनिक तथ्य यह भी है–

(The valley to the waterers, thjat is shall bear fruit)

यह नाटक एक लोक गाथा पर आधारित है जिसमें प्रेम, न्याय और पाश्चात्य महिला की फैंशनपरस्ती का लेखा जोखा प्रस्तुत किया गया है।

ब्रेष्ट का थियेटर 'बर्लिन एन्साबल' नाम से जाना जाता है। ब्रेष्ट मंच सामग्री और वेशभूषा को अधिक महत्वपूर्ण मानता था। वह दृश्य–सज्जा को बहुत सूक्ष्म रूप से प्रस्तुत करता था जिससे नाटक की कथा और अभिनय का पूरा–पूरा अर्थ ज्ञात हो सके। वह थियेटर मे प्रेक्षकों के औत्सुक्य को बनाये रखने पर अधिक जोर देता था। उसके नाटकों का प्रारम्भ कोरस शैली में होता

---

[1] बलवंत गार्गी: रंगमंच पृ. 275।
[2] वहीं, पृ. 258।
[3] The dramatic action of Mother Courage and her children is Brecht's major achievement." Raymond Williams : Drama from Iben to Brecht, pp. 267.

है जिसमें कथाकर हर आगे वाली घटना का क्रम गीत गाकर पिछली घटना से जोड़ता है। ब्रेष्ट को प्रयोग की हुई वस्तुओं को ही प्रयोग करने में अधिक आनन्द आता था, इसलिए वह पुराने सामानों और वस्त्रों का ही प्रयोग नाटकों के अभिनय में करता था।

पाश्चात्य रंगमंचीय क्रम में 'उलजलूल का थियेटर उस सत्य की खोज करता है, जो परम्परागत शब्दों, रीतियों, तर्क–वितर्क और बौद्धिकता में खो गया।''[1] यह रंगमंच, अपनी मंच–सज्जा, कथानक और संवाद से प्रेक्षकों को चौका देता है। सन् 1952 का सेमुअल बेकेंट का नाटक 'वेटिंग फार गोडो' अत्यंत महत्वपूर्ण है, जिसने 1955 में अपने प्रदर्शन से यूरोप में एक नई लहर फैला ली। यह नाटक भावपूर्ण है। मिस्टर गोड़ो कल आयेगा की प्रतीक्षा में पोजो नेत्रहीन हो गया और लकी अन्याय के विरूद्ध चिल्लाते हुये गूंगा। प्रतीक्षा केवल प्रतीक्षा है, किन्तु जीवन का एक अनिवार्य अंग। कैदियों को आशा है शायद कोई गोडो आयेगा, उन्हें मुक्ति देगा। आइनेस्को इस धारा को नया मोड़ देता है।

'मास्को आर्ट थियेटर' जिसकी स्थापना 1900 में नेमिरोविच दानचेको और स्तानिस्लावस्की ने की, इन दोनों ने और चेखव ने रूसी रंगमंच को एक नीवन नवीन जीवंत रूप में प्रस्तुत किया।

पूर्वी यूरोप में थियटरों का एक महत्वपूर्ण स्थान है। उनमें वहां का सांस्कृतिक प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है–

"जर्मन के प्रत्येक नागरिक की नागरिकता थियेटरसे शुरू होती है।"

"हंगरी का प्रत्येक व्यक्ति एक अभिनेता है।"

"यूगोस्लाविया आप को चुनौती देता है कि आप वहां के अभिनेता और नागरिक को अलग–अलग पहचाने।"

---

[1] बलवंत गार्गी: रंगमंच, पृ. 264।

"बुल्गेरिया में एक भी ऐसा नागरिक आपको नहीं मिलेगा जो जिन्दगी से कम से कम एक बार भी मंच पर नहीं चढ़ा हो।"

वहां की पुस्तकों से प्राप्त तथ्य के अनुसार "बारह लाख आबादी वाले बर्लिन में प्रन्द्रह नियमित थियेटर है, पूरे जर्मनी में पंचानबे, दस लाख वाले बुदोपेस्ट में अठारह, दो करोड़, आबादी वाले देश युगोस्लाविया में साठ सत्तर, डेढ़ करोड़ के रूमानिया में पचास, पौन करोड़ के बुल्गेरिया में तीस पैंतींस .... इन देशों के थियेटरों को साठ–सत्तर प्रतिशत सरकारी सहायता मिलती है।"[1]

"बेल्जियम यूरोप का छोटा राष्ट्र है, वहां की सरकार ने 1951 ई. में तीन लाख चालीस हजार डालर यानी लगभन 15 लाख रूपये रंगमंच के प्रोत्साहन के लिये दिये और खर्च तथा संगठन का भार तीन केन्द्रीय संस्थाओं को सौंपा।"

पौलैण्ड में 1946 के बाद सभी रंगशालायें सरकारी संस्था बना दी गई है और उसका प्रबंध संस्कृति और कला विभाग के अन्तर्गत एक संस्था 'जनरल डायरेक्टर ऑफ थियेटर 'आपेरा एण्ड आर्केस्ट्रा के द्वारा होता है। जो भी घटा होता है वह सरकार पूरा करती है।"[2]

पारसी रंगमंच का विकास

पारसी 8वीं सदी में भारत आये। व्यावसायिक रूचि उनमें अधिक थी। धीरे–धीरे उनमें कला के प्रति भी रूचि उत्पन्न हुई। अंग्रेजों ने कलकत्ता और बम्बई जैसे बड़े शहरों में मनोरंजनार्थ अच्छे खासे थियेटरों का निर्माण करा रखा था किन्तु उनमें भारतीयों का प्रवेश वर्जित था। सन् 1853 ई. के आसपास अनेक विदेशी कम्पनियां आने लगी। इनका प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ने लगा और धनसम्पन्न पारसियो ने उन विदेशी कम्पनियों के असर का पूरा–पूरा लाभ

[1] नटरंगः 'विदेशों का रंगमंच' वर्ष 3, संयुक्तांक, 10–11, अप्रैल–सितम्बर, 1969, पृ.90।
[2] कल्पना, जगदीशचन्द्र माथुरः वर्तमान रंगमंचः प्रवृत्तियां और संगठन, अक्टूबर, 1952, पृ. 688–89।

उठायां पारसियों को उच्च शिक्षा दी जाती थी, अतः उनमें अंग्रेजी भाषा का ज्ञान रहता था। साथ ही विदेशी कम्पनियों द्वारा किये गये अभिनय को समझने की शक्ति भी उनमें रहती थी। पारसी विद्यार्थी जो एलफिंस्टन कालेज में शिक्षा ग्रहण करते थे, शौकिया क्लबों द्वारा शेक्सपियर के नाटकों का अभिनय प्रस्तुत करते थे।

सर्वप्रथम पारसी थियेटर की स्थापना 1 अक्टूबर 1853 ई0 को 'पारसी नाटक मण्डली' के नाम से हुई। 'पारसी थियेटर' के उद्‌भव पर प्रकाश डालते हुए डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने 'वह पारसी थियेटर वास्तव में क्या था' नामक निबन्ध में लिखा है कि "बम्बई में अठारह सौ उन्चास में, ग्रांट रोड पर 'बम्बई थियेटर' बना। इसमें अंग्रेजी, पारसी और अंग्रेजी पढ़े–लिखे हिन्दुस्तानियें ने मिलकर उन्हीं अंग्रेजों की नकल में अंग्रेजी में ही नाटक खेलना शुरू कर दिया। इसमें तफरीह के साथ ही साथ और भी बहुत से लाभ होने लगे इसकी परिणति यह हुई कि थोड़े ही दिनों बाद, इसी परिवेश के भीतर से ही एक कम्पनी जन्म ले बैठी, जिसका नाम था 'हिन्दू ड्रामेटिक कोर।' इस कम्पनी का लक्ष्य था हिन्दूस्तानी जुबान में ड्रामा खेलना। यह अपने उस लक्ष्य में सफल हुई। इसके तत्वाधान में नौ मार्च, अठारह सौ तिरपन को जो पहला ड्रामा खेला गया, वह था मराठी ड्रामा। फिर खेले गये गुजराती ड्रामे, और छब्बीस नवम्बर को उर्दू नाटक खेला 'राजा गोपीचन्दर'। यह नाटक शेरो–शायरी से भरपूर एक आपेरा था।

इस प्रसंग में ध्यान देन की बात यह है कि 'हिन्दू ड्रामेटिक कोर' ने ये सारे नाटक किसी न किसी अंग्रेजी कम्पनी या क्लब की ही मदद से खेले थे। जहा निर्देशन से लेकर मेकअप मैन पेंटर तक सब (सारा रंग शिल्प और प्रस्तुतिकरण विधि) अंग्रेज ही थे। सिर्फ एक मुंशी (नाटककार) था मुसलमान और दो अभिनेता थे, पारसी और मराठी। तिजारत की दृष्टि से 'हिन्दू ड्रामेटिक कोर' के नाटक निहायत ही सफल थे। इस तिजारी बात को पकड़ा पारसियों

ने और इस तिजारती–व्यवसायी कौम ने एक के बाद एक नाटक कम्पनियों को स्थापित करना शुरू किया और और जनता को दसी थियेटर' किसी रंगमंच विशेष का नाम न होकर उन्हीं कम्पनियों द्वारा प्रस्तुत नाट्य आयोजनों की समवेत संज्ञा है।[1] (1) इसकी प्रतिक्रिया में विद्यावती ल. नम्र ने 'हिन्दू ड्रामेटिक कोर और पारसी थियेटर की वास्तविकता' नाम लेख में पारसी थियेटर के उद्भव में स्व. श्री विष्णुदास अमृत भावे को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया, "ऐतिहासिक सच तो यह है कि : 1. 'बम्बई थियेटर' ग्रांट रोड का उद्घाटन 10 फरवरी, 1848 ई. को श्रीमती डीक्ल के अंग्रेजी कार्यक्रम से हुआ था, 2– अपना रंगमंच होने से निस्सन्देह अनेक लाभ हुये परन्तु इसकी परिणति 'हिन्दू ड्रामेटिक कोर' के जन्म से नहीं हुई। इसका जन्म तो स्व. श्री विष्णुदास अमृत भावे द्वारा, शुद्ध भारतीय स्वरूप में सन् 1843 ई. में सांगली में पहले ही हो चुका था, जहां इसे सांगली संस्थान के अधिपति श्री मंत चिन्तामणि राव अम्पासाहब का राज्याश्रय भी प्राप्त था। इस ऐतिहासिक सत्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। सन् 1853 ई. में जब यह कम्पनी अपनी दूसूरी यात्रा में बम्बई आयी, तब अंग्रेजी नाटक कम्पनी की टीप टाप, पर्दे तथा बैठने की सुविधा देखकर भावे जी बड़े प्रभावित हुये। उन्होंने अपनी मित्र मण्डली और परममित्र डा. भाउदा जी लाउ के प्रयत्नों से यह थियेटर अपने नाटकों के लिये प्राप्त कर लिया। इसी थियेटर में उन्होंने 9 मार्च, 1953 को 'सुलोचना सहगमन' और 'अश्वमेध यज्ञ' तथा लवकुश' मराठी आख्यान अभिनीत किये। इस विषय में 'दी बाम्बे टाइम्स' 13 मार्च, शुक्रवार की संपादकीय ध्यान देने योग्य है।[2]

वस्तुतः पारसी नाटक कम्पनियों पर अंग्रेजी नाटक कम्पनियों के अभिनय का प्रभाव सघन रूप से पड़ा। पारसियों ने अंग्रेजों से अभिनय–शैली ग्रहण किया साथ ही उन पर उनकी टेकनिक का प्रभाव पड़ा। अंग्रेजी कम्पनियों के

---

[1] डा0 लक्ष्मीनारायण लालः वह पारसी थियेटर वास्तव में क्या था, धर्मयुग, 15 फरवरी, 1990 पृ. 20।

[2] डा0 विद्यावती ल. नम्र : हिन्दू ड्रामेटिक कोर और पारसी थियेटर की वास्तविकता, धर्मयुग 29 मार्च, 1990 ई. पृ. 16।

प्रदर्शन में जो तड़क–भड़क का आकर्षण था वह पारसी कम्पनियों में आकर और निखर गया और पारसियों ने व्यावसायिक रंगमंच की स्थापना की। इन कम्पनियों में प्रमुख था रूस्त जी फ्राम जी और काम्स जी द्वारा निर्मित 'ओरिजनल। थियोट्रिकल कम्पनी', 'न्यू एलफ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी (सन् 1890 ई.) दिल्ली में खुर्शीद जी बालीवाल द्वारा निर्मित विक्टोरिया थियोट्रिकल कम्पनी (1877 ई.) ओल्ड पारसी थियेट्रिकल कम्पनी, अलेक्जेंड्रा कम्पनी, कोरेथेयन कम्पनी, प्रिंस थियेट्रिकल कम्पनी, इम्पीरियल थियेट्रिकल कम्पनी इत्यादि।

आरम्भ मे पारसी थियेटर साधन–विहीन थे, किन्तु धीरे–धीरे इनके पास रंगमंच सम्बन्धी सारे उपकरण हो गये। इन कम्पनियों के पास विशेष प्रकार के यंत्र भी होते थे जिनके देवों को हवा में उड़ता हुआ दिखाया जाता था, हीरो महल की दीवार से नदी में छलांग लगाते हुए दिखाया जाता था, परियों को आकाश से उतरते हुये दिखाया जाता था, "इस प्रकार के चामत्कारिक दृश्य और युक्तियां उन्नीसवीं शताब्दी के लन्दन के डूरीलेन थियेटर की भड़कीली दृश्य–सज्जा की सीधी नकल थे।"[1]

इन कम्पनियों के पास अच्छे नाटककार और रंग निर्देशक होते थे। हिरोइन का काम पुरूष पात्र ही प्रारम्भ में करते थे किन्तु बाद में नर्तकियां और वेश्याओं भी भाग लेने लगी। इन कम्पनियेां द्वारा खेले जाने वाले नाटक प्रकाशित नहीं किये जाते थे। उन्हें डर रहता था कि उनके गीत, शेर और डायलाग दूसरी कम्पनियों चुरा लेंगे। आकर्षण, नविनता और उत्सुकता बनाये रखने के लिये भड़कीले व चमकदार पर्दो का प्रयोग किया जाता था। चित्रयुक्त झांकियां, मधुर गीत और सीन–सीनरियों का अधिक प्रयोग होता था। शहरों और कस्बों में कम्पनियों के आने के पूर्व ही प्रचार के लिये आकर्षक इश्तहार लगा दिये जाते थे। जिस पर लिखा रहता था "राजकुमारी जिसने लंगेड़े

---

[1] बलवंत गार्गी : रंगमंच पृ. 171।

भिखारी से व्याह किया।'' ''डाकू जो सन्त बन गया'' इत्यादि। अभिनय में मंच सज्जा और वस्त्र सज्जा में बहुत धन व्यय किया जाता था।

इन कम्पनियों के नाटकों की कथावस्तु उपदेशपरक होती थी। धर्म, सत्य, पतिव्रत, वीरता का उनमें समावेश रहता था। हिन्दू–मुस्लिम एकता विषय पर भी नाटक खेले जाते थे। इनकी कथावस्तु का आधार शेक्सपीयर के नाटक, पुराण, इतिहास एवं मध्ययुगीन किस्से कहानियां थी। सामाजिक नाटकों को रोमांटिक रूप से प्रदर्शित किया जाता था।

सर्वप्रथम पारसी कम्पनियों ने 'शेक्सपीयर के नाटक' अंग्रेजी व गुजराती में प्रस्तुत करने के बाद सुधारवादी दृष्टि को अपनाया और नये–नये प्रयोगों के साथ ईरानी भाषा के सामाजिक नाटक ईरानी पोशाको में प्रस्तुत किये। ईरानी नाटकों के फारसी गानों को मराठी तर्जों में बैठाया। पारसी थियेटर में क्रांति लाने वाले स्व. दादा भाई पटेल, एम.ए. ने सन् 1870 ई. में फारसी गानों को हिन्दी राग–रागिनियों में पेश किया।''[1] इन कम्पनियों के नाटकों की भाषा साहित्यिक दृष्टि से निम्न कोटि की थी उसमें हिन्दी, उर्दू एवं फारसी का मिश्रण रहता था। शेरों की भरमार रहती थी। किन्तु उनकी शैली सशक्त, कार्य–व्यापार प्रभावशाली एवं तीव्र और संवाद सुगठित तथा चुस्त होत थे। नाटकों के बीच–बीच में कौमिक (हास्य अभिनय) को प्रयोग रहता था। कभी–कभी ये नाटक लोकनाट्यों के बहुत समीप से होकर गुजरते से प्रतीत होते। नाटकों का विभाजन 3 से 5 अंको में होता था। दृश्य विभाजन और सीन विभाजन का बहुतायत था। लम्बे स्वागत कथन होते थे।

पारसी रंगमंच के नाटक लेखकों में प्रमुख थे 'आगाहश्र कश्मीरी' (शहीदे नाज, सफेद खून, ख्वाबे हस्ती, सैदे हबस, बिल्वमंगल, आंख का नशा, रूस्तम–ओ–सुहराब आदि), पं. नारायण प्रसाद 'बेताव' (गोरखधन्धा, महाभारत, कृष्ण–सुदामा, रामायण नाटक आदि, राधेश्याम कथावाचक (वीर अभिमन्यु,

---

[1] धर्मयुग,, 29 मार्च, 1970 ई. पृ. 18।

कृष्णावतार, श्रवणकुमार, मशरिकी हूर, परिवर्तन आदि) किशनचन्द्र जेबा (शहीद सन्यासी, जख्मी हिन्दू, देश दीपक चिराग वतन आदि), श्री कृष्ण हसरत (गंगावतरण) तुलसीदत्त शैदा (जनकनंदनी), जमुनादास मेहरा (कन्या विक्रय, देवयानी, आदर्शबन्ध या पाप परिणय), इत्यादि।[1]

नाटक रात के 10 बजे से सुबह 3–4 बजे तक चलते थे, उनका आरम्भ मंगलाचरण, कोरस से होता था। नाटकों में दुःख और सुख का समन्वय रहता था। वाद्या में तबला, हारमोनियम, वायलिन और क्लारनेट का प्रयोग होता था। मारपीट एवं हत्या का भी अभिनय नाटकों में किया जाता था। प्रेम–प्रसंगों को अत्यंत मार्मिक ढं से प्रस्तुत किया जाता था। नाटक देखने वाले गीत और हीरों के बारे में पहले जानकारी प्राप्त कर लेते थे। अच्छे गीत और अच्छा हीरों रहने पर एक–एक नाटक महीनों तक चलता था। एक्टरों के लिये गाना, नाचना और तेज आवाज आवश्यक था।

पारसी थियेटर के प्रसिद्ध कलाकारों में प्रमुख थे मास्टर भगवानदास, रहीम बख्श, मिस गौहर, आगा महमूद, खुरशेदजी, कावस जी खटाऊ, जहांगीर, सोहराब इत्यादि।

यद्यपि पारसी थियेटर को नाट्य आलोचकों ने महत्वपूर्ण स्थान न देकर उपेक्षा की दृष्टि से देखा फिर भी भारत में हिन्दी रंगमंच की सशक्त परम्परा के विकास में पारसी रंगमंच के योगदान को नकारा नहीं जा सकता। विकास की दृष्टि से रंगमंच को तो व्यावसायिक होना ही चाहिये। पारसी रंगमंच जन–मनोरंजन का एक उपयुक्त माध्यम था जो सबके लिये सुलभ था। पारसी रंगमंच दिल्ली दरबार से लेकर 1935–36 तक लगभग चार दशकों तक जीवित रहा किन्तु 1930 ई. के बाद कुछ कम्पनियां ही जीवित रही। फिल्मों के

---

[1] दृष्टव्य, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष 73, सं. 2025 वि. एवं सम्मेलन पत्रिका बम्बई का पारसी रंगमंच : रणधीर उपाध्याय, वर्ष 49, अंक 3–4, सं. 1985 वि.।

प्रभाव के बढ़ने के साथ ही सन् 1935 ई. के आसपास पारसी रंगमंच का अंत हो गया और इनका स्थान क्लबों ने ग्रहण कर लिया।

रंगमंच और नाटक का सम्बन्ध

पारस्परिक प्रभाव

नाटक रंगमंच को जन्म देता है और रंगमंच नाटक को जीवन। नाटक और रंगमंच वस्तुतः एक दूसरे के पूरक है। रंगमंच के अभाव में नाटक के दृश्य होने की कल्पना ही नहीं की जा सकती और नाटक दृश्यकाव्य से परे हो जायेगा। विश्व में जब–जब रंगमंच का उत्थान हुआ है, किन्तु मौलिक विचारणीय प्रश्न तो यह है कि नाटक रंगमंच के लिये लिखे जाय या नाटक के लिये रंगमंच हो। जयशंकर प्रसाद ने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है कि "रंगमंच के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिये लिखे जाये। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो।"[1] नाटक के लिये रंगमंच हो किन्तु शिल्पगत दृष्टि से नाटक में अभिनय तत्व अवश्य होने चाहिए। अभिनय तत्वों के अभावा में नाटक का रंगमंचीय प्रयोग यदि किसी प्रकार हो भी जाये तो वह प्रेक्षकों को सन्तुष्ट नहीं कर सकेगा।

रंगमंच और नाटक के सम्बन्ध को दृढ़ बनाने के लिये प्रेक्षक की भूमिका महत्वपूर्ण है। प्रेक्षक की अनुभूतियों, विचारों, भावों में तीव्रता आ जाती है तो रंगमंच अपने को कृतार्थ समझता है। इसलिए नाट्य–रचना के समय नाटककार को उन सारी बातों का ध्यान रखना आवश्यक है जिनसे नाटक का रंगमंचीय रूप अधिक से अधिक सबल हो सके। इसलिये यह आवश्यक है कि नाट्य–रचना के समय नाटककार रंगमंय की आवश्यकता का पूरा ध्यान रखे। रंगमंच के लिये अनुपयुक्त नाटकों को ब्रैडर मैथ्यूज ने वर्णसंकार की संज्ञा प्रदान की है, 'हमारी मांग उन वर्णसंकार पाठ्य नाटकों के लिये नहीं है, जिसे

---

[1] जयशंकर प्रसादः काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, प्र.सं. पृ.10।

रंगमंच पर खेला ही नहीं जा सकता, वह तो केवल कथोपकथन में पिरोई गई कविता है, जो अभिनेताओं द्वारा दर्शकों के सम्मुख रंगमंच पर प्रस्तुत ही नहीं हो सकती, और थेड़े से ऐसे लोगों की ही प्रिय हो सकती है, जो अपने मन से इस पसंद के लिये समझौता कर सकते हो।[1]

प्रसिद्ध फ्रांसीसी आलोचक ब्रूनत्यार, फ्रदिनी (1849–1906) ने नाटक के सम्बन्ध में अपना अनुभव व्यक्त करते हुये रंगमंच को अधिक महत्व प्रदान किया है। उसका विश्वास है कि कोई भी नाट्यकृति जब तक जनता के सहयोग से रंगमंच पर नही निखर जाती तब तक उसकी अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। पाश्चात्य देशों में तो अभिनय के पूर्व नाटक छापने की प्रथाही नहीं रही, जब तक नाटक का कई बार प्रदर्शन नहीं हो जाता नाटक का प्रकाशन नहीं होता था। इब्सन ने तो शुष्क से शुष्क नाटकों को भी रंगमंच पर सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया।

लगभग प्रत्येक युग में रंगशालाओं के अनुसार ही नाटकों की रचना होती है। इस सम्बन्ध में ब्रैडर मथ्यूज का कथन है कि "प्रत्येक ऐसे युग में जब किसी भाषाके साहित्य में नाटक की बहुत अधिक रचना हुयी है, यह देखा जा सकता है कि नाटककार ने अपने समयकी ही रंगशाला की स्थितियों के अनुसार अपने नाटकों को ढाला है।"[2]

नाटककार को सर्वदा रंगशालाये अने अनुसार परिवर्तित करती है तथा रंगशालाओं को नाटककार परिवर्तन की दिशा प्रदान करते है। इसीलिए एथेन्सवासियों की विशाल खुली रंगशालाओं एलिजाबेथ काल के लन्दन में छोटे आधी छत वाले क्रीडास्थलों, जैसी रंगशालाओं और लुई चौदहवें के समय की पेरिस की टेनिस के मैदान जैसी लम्बे और संकरी रंगशालाओं में महान् अन्तर

---

[1] बैंडर मैथ्यूज : नाटक साहित्य का अध्ययन (अनुवादिका, इन्दुज अवस्थी), पृ.138।
[2] बैंडर मैथ्यूज : नाटक साहित्य का अध्ययन (अनुवादिका, इन्दुज अवस्थी), पृ.26।

था। नाटककार जब नाटक लिखकर प्रदर्शन को देता है तक रंगशालाये ही उसे जीवनदान देती है।

डॉ0 लक्ष्मीनारायण लाल ने रंगमंच और नाटक के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "रंगमंच की आत्मा नाटक अथवा नाटकीयता है, और उसका सनातन धर्म प्रदर्शन है।"[1]

उनका कथन है कि रंगमंच अपने अन्दर मनुष्य जीवन को समाहित कर लेता है तथा क्रम से उसे प्रदर्शित करता है, "नाटक ही तो अपने मूर्त और व्यापक अर्थ से रंगमंच है और नाट्य प्रकृति इसका प्राण।.... नाट्य कृति और रंगमंच एक दूसरे के कार्य और कारण है। दूसरे स्तर पर एक दूसरे के पूरक और यहां तक कि एक दूसरे के पर्याय भी है।"[2] रंगमंच और अभिनेताओं पर प्रकाश डालते हुए ग्रोटोवस्की ने पात्रों को रंगमंचीय प्रयोगशाला को दृश्य बनाने का साधन और माध्यम माना है।[3] "रंगमंच सक्रिय होने से लेखक का नाट्यात्मक–अनुभूति से निरन्तर साक्षात्कार होता रहता है, जिससे नाटककार के रूप में उसके सर्जनात्मक व्यक्तित्व के निर्माण और विकास में सहायता मिलती है।"[4] इस प्रकार नये नाट्य प्रयोगों और नई नाट्य रचना को प्रोत्साहन मिलता है। नाटक की प्रकृति पर प्रकाश डालते हुए श्री नेमिचन्द्र जैन ने रंगमंच को ही प्राथमिकता प्रदान की है–

---

[1] डॉ0 लक्ष्मीनारायण लालः रंगमंच और नाटककार की भूमिका, प्र.सं. सन् 1965 ई. पृ.14।

[2] डॉ0 लक्ष्मीनारायण लालः रंगमंच और नाटककार की भूमिका, प्र.सं. सन् 1965 ई. पृ.15।

[3] "Most of the actors at the theatre laboratory are just beginning to work towards the possibility of making such process visible....." .... Jerzy Grotowski : Towards a Poor Theatre (1968), P.17.

[4] नेमिचन्द्र जैन : रंगदर्शन, 1967 ई.।

"नाटक वह संवादमूलक कथा है जिसे अभिनेता रंगमंच पर नाट्य व्यापार के रूप मे दर्शक वर्ग के सामने प्रस्तुत करते है।"[1] उनका मत है कि रंगमंच से अलग करके नाटक का मूल्यांकन ही नहीं किया जा सकता। रंगमंच पर अभिनेताओं द्वारा प्राणप्रतिष्ठा के बिना नाटक को सम्पूर्णता प्राप्त नहीं होती। इसीलिए रंगमंच से अलग करके नाटक का मूल्यांकन या उसके विविध अंगों और पक्षों पर विचार अपूर्ण ही नहीं भ्रामक है।[2]

हिन्दी रंगमंच का विकास : संक्षिप्त

1. साठोत्तर पूर्व रंगमंच

पारसी रंगमंच का आकर्षण अत्यन्त सतही था किन्तु प्रभावहीन नहीं था। उसके विनाश का कारण उसकी सीमायें थी। पारसी रंगमंच में अन्तविरोध था, "इस अन्तविरोध का आरम्भ भाषा के प्रश्न को लेकर हुआ। इस व्यावसायिक रंग परम्परा का आरम्भ उन्नीसवीं शदी के सातवें दशक में बहुभाषी नगर बम्बई में पारसी व्यावसासियों द्वारा संपूर्ण उत्तर भारतीय बाजार पाने की दृष्टि से किया गया था। पारसी रंगमंच का अंत भाषा के प्रश्न को लेकर ही हुआ। वस्तुतः उर्दू भाषा जनसाधारण की भाषा होते हुए भी लोकप्रिय नहीं थी, साथ ही पौराणिक कथानकों प्रस्तुत करने में आमर्थ थी। उर्दू भाषा के प्रयोग से पौराणिक नाटकों का सांस्कृतिक परिवेश समाप्त हो जाता था और नाटक प्रभावहीन होते थें। फलस्वरूप पारसी रंगमंच अपनी ही जड़ता, कृत्रिमता, आन्तरिक विरोध विसंगतियों के कारण नष्ट हो गया।

इस संदर्भ में उल्लेखनीय बात तो यह है कि पारसी रंगमंच अंग्रेजी प्रभाव में रहकर भी उससे अछुता था क्योंकि उस समय योरोप में यथार्थवादी रंगमंच का अविर्भाव हो चुका था। "हमारे देश का प्रारम्भिक तथा अधिकांश परवर्ती पारसी नाटक उस युग के किसी योरोपीय या अंग्रेजी नाट्य प्रकार

---

[1] नेमिचन्द्र जैन : रंगदर्शन, 1967 ई. पृ.16।।
[2] नेमिचन्द्र जैन : रंगदर्शन, 1967 ई. पृ.15।

जैसा नही था। योरोप में उस समय यथार्थवादी रंगमंच का उदय हो रहा था और बीसवीं सदी के प्रारम्भ होते होते याथार्थवादी परम्परा के अधिकांश सर्वश्रेष्ठ नाटककार इब्सन, स्टिग्बर्ग, तालस्ताय आदि विश्वविख्यात नाटक लिखे जा चुके थे और रंगमंच पर महत्वपूर्ण याथार्थवादी निदेशक और अभिनेता प्रकट हो चुके थें।''[1] उस युग में पारसी रंगमंच के साथ ही प्रत्येक भाषा में अलग–अलग व्यावसायिक नाट्यमंडलियों का विकास होने लगा था। ''उस युग में हिन्दी में पारसी रंगमंच का और उसी के सामानान्तर प्रायः प्रत्येक भाषा की व्यावसायिक नाटकमंडलियों का वह रूप विभिन्न नाट्य परम्पराओं के एक नवीन भारतीय मिश्रण का ही सूचक है।''[2]

पारसी नाटक मंडलियों ने शेक्सपीय के नाटकों को ही आधार इसलिए बनाया क्योंकि वे संस्कृत नाट्य परम्परा के बहुत समीप थें। उनकी टेकनिक और शैली संस्कृत नाटकों से मिलती थी। इसलिए पारसी रंगमंच के विकास का श्रोत सर्वप्रथम शेक्सपीयर के नाटकों से आरम्भ हुआ। शेक्सपीयर के नाटकों से प्राचीन भारतीय नाटक की समानता के कारण शिक्षित लोगों में उनका प्रचार होते देर न लगी।[3]

हिन्दी रंगमंच परंपरा में जिस नाटक का सर्वप्रथम अभिनय हुआ, वह है पं0 शीतलप्रसाद त्रिपाठी कृ 'जानकी मंगल'। हिन्दी भाषा में जो सबसे पहला नाटक खेला गया वह जानकी मंगल' था। ऐश्वर्य नारायण सिंह के प्रयत्न से चैत्र शुक्ल 11, सं0 1925 वि0 में बनारस थियेटर में बड़ी धुमधाम से यह नाटक खेला गया। रामायण से कथ निकालकर यह नाटक पं0 शीतलाप्रसाद त्रिपाठी ने बनाया था।''[4] उत्तर प्रदेश में सर्वप्रथत लखनऊ मे वाजिद अलीशाह

---

[1] नेमिचन्द्र जैन : रंगदर्शन, पृ0 198।
[2] नेमिनचन्द्र जैन : रंगदर्शन, पृ0 198
[3] लक्ष्मीनारायण वार्ष्णेय : आधुनिक हिन्दी, तृ.सं. 1954 ई. पृ. 234
[4] श्री हरिशन्द्र कला (संपा. बाबू रामदीन सिंह), पथम भाग नाटकवली में 'नाटक' शीर्षक विबन्ध पृ0 41 पृ0सं0 खउ्ग विलास प्रेस, पटना सन् 1988 ई.। द्रव्यष्ट नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष 73 सं. 2055 वि.

का छतर मंजिल में स्थापित थियेटर (1822–87),[1] बनारस थियेटर (सन् 1967–68) के अतिरिक्त हिन्दी रंगमंचके विकास में काशी की विभिन्न संस्थाओं को विशेष योगदान उस काल में रहा, यथा नेशनल थियेटर (1884 ई), भारतेन्दु नाटक मण्डली, (1906 ई.), नागरी नाटक मण्डली (1908 ई.) आदि।

भारतेन्दु में अभिनय के प्रति विशेष रूचि थी वह अन्य मण्डलियों के नियंत्रण पर भी नाटक का अभिनय कराने जाते थे। बलिया–नाट्य समाज (सन् 1984 ई.) के निमंत्रण पर ''बाबू साहेब ने शरीर कृषित होने की अवस्था में भी अपने स्वाभाविक शील और सहज दयालुता से द्रवित होकर यहा का आना स्वीकार किया था और गत दादरी के मेले में विराजमान होकर वहाँ बलिया नाट्य समाज की जो उस समय नया स्थापित हुआ था बड़ी सहायता दी 'सत्यहरिशन्द्र' और 'नीलदेवी' का अभिनय ऐसे उत्तम रीति से कराया कि सब देखने वाले मोहित हो गय।''[2] भारतेन्दु के नाटकों में अभिनय तत्व प्रचुर मात्रा में विद्यमान होने के कारण उनका अभिनय अधिक किया गया। मुख्य रूप से 'सत्यहरिश्चन्द्र, चन्द्रवली, अन्धेरी नगरी और नीलदेवी' का अभिनय उच्चकोटी का होता था।

भारतेन्दु काल में पारसी रंगमंच भी सक्रीय था किन्तु इन मण्डलियों पर उनका प्रभाव नही पड़ा। इनका साहित्यिक स्तर पारसी मण्डलियों के काफी ऊंचा था। जनता की रूचि भी धीरे–धीरे बदलती गई और पारसी मण्डलियों से लोगों को अरूचि सी उत्पन्न हो गयी। इस प्रकार साहित्यिक नाटकों के अभिनय का सूत्रपात हुआ।

परन्तु उल्लेखनीय बात तो यह है कि पारसी–रंगमंच का प्रभाव किसी न किसी रूप में बना रहा। नेमिचन्द्र जैन ने तो पारसी–रंगमंच का प्रभाव, जयशंकर प्रसाद के नाट्य शिल्प पर स्वीकार किया है। ''प्रसाद के नाटक एक

---

[1] नटरंग वर्ष3 संयुक्तांक, 10–11 अप्रैल–सितम्बर, 1969 ई. 'सोमनाथ गुप्त' : हिन्दी क्षेत्र की आरम्भिक नाट्यशालयें।

[2] बनारस, 9 फरवरी, 1885 ई. भारतजीवन प्रेस, पृ0 3।

भिन्न स्तर पर पारसी रंगमंच के युग की ही चरम उपलब्धि से सूचक है। प्रसाद के नाटक पारसी रंगमंच की ही बुनियाद पर अड़े है, उनका कार्य व्यापार का विन्यास, दृश्य संयोजन, रूपबंध सब कुछ पारसी की रूढ़ियों और व्यावहारों से निर्धारित हुआ है।"[1] पारसी रंगमंच पर प्रभाव के संदर्भ में नेमिचन्द्र जैन का कथन है कि "पारसी–रंगमंच ने हिन्दी रंगमंच के विकास और स्वरूप पर बड़ी गहरी छाप छोड़ी है और परवर्तीकाल के पृथ्वी थियेटर्स और समसमायिक कलकत्ते की मूनलाइट कम्पनी तथा लगभग उन्हीं आदर्शो और मुल्यों को अभिव्यक्त करने वाला दिल्ली का श्री आर्ट्स क्लब अथवा हिन्दी प्रदेश के विभिन्न नगरों और कस्बों के नाट्यदल, उसी परम्परा को अधूरे–अशक्त रूप में बार–बार अभिव्यक्त करते रहते है।"[2]

सन् 1935 ई. में पारसी रंगमंच के ह्रास के बाद सन् 1936 ई. में प्रेमचन्द्र की अध्यक्षता में स्थापित प्रगतिवादी लेखक संघ के अधिवेशन के साथ ही प्रगतिवादी विचाधारा का प्रभाव प्रारम्भ हुआ और अखिल भारतीय जन–नाट्य संघ का पहला प्रदर्शन बम्बई में हुआ, "सन् 1942 ई. की पहली मई रात के साढ़े नौ बजे बम्बई की मजदूर बस्ती के अन्तराल परेल के दमोदर हाल में अखिल भारतीय जन नाट्यसंघ का पहला प्रदर्शन हुआ। इस प्रदर्शन ने नगर में तूफान मचा दिया। सरवालकर का 'दादा' और सरदार जाफरी का 'यह किसका खून है', जनसाधारण के दो नाटक उस दौर के प्रकाशस्तम्भ थे।"[3]

इस प्रकार जिस सामाजिक सोद्येश्य कथावस्तु की तलाश थी वह रंगमंच को प्राप्त हो गई। नाटक पूर्णरूपेण सामाजिक धरातल से सट कर आगे बढ़ने लगा। मानवीय संवेदना रंगमंच के माध्यम से उभर कर सशक्त रूप से प्रस्तुत हुई। "नये रंगविधान के साथ सोद्येश्य नाट्य चेतना का अखिल भारतीय स्तर

---

[1] नेमिचन्द्र जैन : रंगदर्शन, पृ0 189
[2] वही, वही, पृ0 199
[3] देवदत्त शास्त्री (संपादक) : पृथ्वीराज अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ0 349

पर एक लहर फैलाने का वास्तविक कार्य "भारतीय जन नाट्य संघ" (इंडियन पिपुल्स थियेटर्स) (इप्टा) द्वारा ही आरम्भ हो सका।"[1] सन् 1950 ई. के बाद जननाट्यसंघ का भी ह्रास हो गया। लगभग सन् 1943–45 के आसपास पीपुल थियेटर स्थापित हुआ। सन् 1945 में पीपुल थियेटर्स का सेन्ट्रल बैले ट्रुप स्थापित हुआ। नाटक में नयें कथानकों का कलात्मक ढंग से उपयोग होने लगा और उनका अभिनय अत्यन्त प्रभावशाली होने लगा। इसी कलात्मक ढंग से उपयोग होने लगा और उनका अभिनय उत्यन्त प्रभावशाली होने लगा। इसी सदी के पांचवे दशक में बम्बई में सन् 1944 ई. में पृथ्वीराज कपूर पे पृथ्वी थियेटर्स की स्थापना की। यह पारसी रंगमंच से प्रभावित होने पर भी उससे बहुत भिन्न था। यह थियेटर घाटा सहकर भी 16 वर्ष तक हिन्दी नाटकों का अभिनय करता रहा। इससे अभिनित प्रमुख नाटक ह, दीवार, शकुन्तला, पठान, गद्दार, आहुति, कलाकार, पैसा और किसान। पृथ्वी थियेटर्स में जीवतता थी। वह मानव जीवन को यथार्थ रूप से प्रकट करने में सफल रहा। इसमें पृथ्वीराज कपूर एक सशक्त अभिनेता के रूप में प्रकट हुए। उनका अभिनय हिन्दी रंगमंच जगत् में एक उल्लेखनीय घटना है। अंत में घाटे से ऊब कर और पृथ्वीराज के लगातार अस्वस्थ रहने के कारण यह थियेटर 1 मई 1960 ई. को बन्द कर दिया गया।

वस्तुतः 'पृथ्वी थियेटर्स' भी भावुकता से ओतप्रोत था और सतही था। इसलिए वह हिन्दी रंगमंच को जीवतता न प्रदान कर सका और न ही इस परम्परा का आगे विकास ही हो सका।

सन् 1947 ई. के आसपास 'पृथ्वी थियेटस्र ' और 'भारतीय जन नाट्य संघ' के अतिरिक्त महानगरों (कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली) को छोड़कर अन्य उप महानगरों बनारस, कानपुर, लखनऊ इलाहाबाद आदि में भी रंगमंचीय परिवेश क्रियशील हो चुका था।

---

[1] हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (भाग–14), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृ0 274

अनेक छोटी–बड़ी नाट्य संस्थायें मूल नाटक या अनुवादों का अभिनय प्रस्तुत करने लगी थी। साथ ही उच्च साहित्य नाटकों का भी सृजन होने लगा था। अभिनय में प्रतिष्ठित घरों की युवतियों ने भी भाग लेना प्रारम्भ कर दिया और जनसाधारण का भी ध्यान अभिनय कला की ओर आकृष्ट हुआ। किन्तु अभिनय प्रदर्शन और रंगमंचीय गतिविधियों को नाय मोड़ केन्द्र (दिल्ली) ने दिया। दिल्ली का रंगमंच स्वातन्त्रोत्तर रंगमंच की रीढ़ है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार का ध्यान कलाओं के विकास की ओर आकर्षित हुआ और उसको समृद्ध बनाने के लिए भारत सरकार ने 'संगीत नाटक अकादमी' की स्थापना की।

राजधानी के रंगमंचों में उल्लेखलीय है थ्री आट्र्स क्लब –

दिल्ली आट्र्स थियेटर –

इसमें विष्णु प्रभाकर के 'होरी', 'देवी' और शरतचन्द्र के 'षोशडी' रवीन्द्रनाथ के 'डाकघर' और मलियार के 'कंजूस' नाटक का अभिनय हुआ है।

लिटिल थियेटर ग्रुप, दिल्ली

यहाँ पहले अंग्रेजी नाटकों का अभिनय होता था। अब अनुवादों का अभिनय हो रहा है– स्टिफन क्रास्तोव का 'मिनिस्टर' प्रीस्टले का 'इन्स्पेक्टर विवेक', वसंत कानेटर का 'जंजिरे' एवं पु0 ल0 देशपाण्डेय का 'कस्तुरी मृग', डा0 लक्ष्मीनारायण लाल का 'सगुन पंक्षी' आदि।

इन्द्रप्रस्थ थियेटर

सं0 आर. जी. आनंद, चित्रलेखा, हम हिन्दुस्तानी, दरबारे अकबरी।

यात्रिक

यह अर्धव्यावसायिक मण्डली है, जो क्रमशः अंग्रेजी, हिन्दी के नाटकों का अभिनय करती है।

रंगमंच नामक संस्था

अभिनीत नाटक पिंटर का केयर टेकर ब्रजमोहन शाह का 'आलगोजा'।

अन्य रंगमंच

कला साधना मंदिर, नानग्रुप–अग्रदूत, अंकिता, अभियान छायानट, प्रयोग, सृजन आदि संस्थायें दिल्ली में उभर कर सामने आ रही है।

2. साठोत्तरी रंगमंच

सन् 1959 ई0 में संगीत नाटक आकादमी की ओर से 'नेशनल स्कुल आफ ड्रामा और एशियन थियेटर इंस्टीच्यूट' की स्थापना हुई। अब नेशनल स्कूल आफ ड्रामा शिक्षा एवं सस्कृति मंत्रालय का एक स्वायत्त संगठन बन गया है, जिसमें तीन वर्ष की नाटक सम्बन्धि शिक्षा प्रदान की जाती है। इसमें पौरत्स्य और पाश्चात्य नाटक साहित्य के अध्ययन के साथ–साथ, एक्टिंग, सिनिक डिजाइन कस्टयूम डियाइन, लाइटिंग, मेकअप, थियेटर आर्किटेक्चर का अध्ययन कराया जाता है। साथ ही 'एक्टिंग, डाइरेक्शन, स्टेजक्राफ्ट और स्कूल ड्रामेटिक्स का विशेष अध्ययन कराया जाता है। समय–समय पर 'नेशनल स्कूल आफ ड्रामा' के विद्यार्थियों द्वारा नाटकों का अभिनय प्रदर्शन भी किया जाता है। 'नेशनल स्कूल आफ ड्रामा' द्वारा अभिनीत महत्वपूर्ण नाटक –

भगवद्रज्जुकम (बोधगया), पापा और प्रकाश (तालस्ताय), शरदीया (जगदीशचन्द्र माथुर), आषाढ़ का एक दिन (मोहन राकेश), लहरों के सजहरा (मोहन राकेश), अन्धायम (डा0 धर्मवीर भारती, सुनो जनमेजय (आद्यरंगाचार्य),

प्रेत (इब्सन), मध्यमव्यायोग (भास) गुड़िया का घर (इब्सन) एंटिमनी (ज्यां आनुई), बिच्छु और कंजूस (मोलियर), ईडियस (सोफोक्लीस), सपने (काव्यू), फादर (स्टिग्बर्ग), किंग लियर (शेक्सपीयर), मोहम्मद तुगलक (गिरीश करनाड़), ट्राय की औरतें (यूरोपिडीज), सूर्यमुख (डा0 लक्ष्मीनारयण लाल), हानूश (भीष्म शाहनी) इत्यादि।

दिशान्तर द्वारा ओमशिवपुरी के निर्देशन में आधे–अधुरे का प्रदर्शन बहुत सफल रहा।

सन् 1955, 22 दिसम्बर को कोलकात्ता में 'अनामिका' की स्थापना हुई। (इसके निर्देशकों में श्यामानन्दन जालान, प्रतिभा अग्रवाल, बद्री तिवारी कृष्ण कुमार और शिव कुमार जोशी तााि रूपान्तकारों में श्यामानन्दन जालान और प्रतिभा अग्रवाल उल्लेखनीय है।) संगीत नाटक अकादमी द्वारा आयोजित नाट्य प्रस्तुतिकरण प्रतियोगिता में विनोद रस्तोगी द्वारा रचित 'नये हाथ' नाटक पर इस संस्था ने प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया। रवीन्द्र शतवार्षिक के अवसर पर सन् 1961 ई. में नई दिल्ली में 'घर बाहर' का प्रदर्शन, एरिना थियेटर में सन् 1963 ई. में 'छपते' छपते' का प्रदर्शन अखिल भारतीय नाट्य महोत्सव के अवसर पर सन् 1967 ई. में 'शुतुरमुर्ग' का शैलीबद्ध प्रस्तुतिकरण अनामिका की विशेष उपलब्धियां है। इस संस्था ने निम्नलिखि नाटकों का अभिनय किया है ।

हम हिन्दुस्तानी है, सत्य किरण, चाय पार्टियां, संगमरमर पर एक रात, नदी प्यासी थी, नये हाथ, अंजो दीदी, पाटलीपुत्र के खंडहर में, जनता का शत्रु, नवजोति की नई हिरोइन, घर और बाहर, सम्राज्ञी, नीली झील, आषाढ़ का एक दिन छपते–छपते, शेष रक्षा, मादा कैक्टस, कांचन रंग, लहरों के राजहंस, सुहाग के नुपुर, दर्पण शुतुरमुर्ग, सांप उतरा, मनमाने की बात मासूम (बाल नाटक), पगला घोड़ा एवम् इन्द्रजित, आधे अधुरे और कथा एक हंस की इत्यादि।

अदाकारा

कलकत्ता में इसकी स्थापना सन् 1966 ई. में हुई। अदाकारा ने 28 फरवरी 1966 में अपना प्रदर्शन किया। यह नाटक जे.बी. प्रीस्टले कृत 'ऐन इन्स्पेक्टर्स कार्ल्स' का 'आवाज' नाम से रूपानतर था। तत्पश्चात् 'इलेक्शन–इलेक्शन' अभिनीत हुआ। 'छायानट' (उत्पलदत्त) 'ढाई आखर प्रेम का' (बसंतकानेटकर), तजनीगंधा (धनेजय वैरागी) का क्रमशः बंगला, मराठी में अभिनय हुआ। बाद में भुचाल, निषाद, फंदा, दलदल, सुनो जनमेजय, कस्तूरी मृग का भी सफल प्रदर्शन हुआ।

संगीत कला मंदिर

इसकी स्थापना कलकत्ते में सन् 1945 ई. में हुई। किनतु इसमें नाटकों का अभिनय प्रदर्शन सन् 1963 ई. में प्रारम्भ हुआ। 'धूप के साये में' नाटक का अभिनय इस संस्था का विशेष आकर्षण है।

बम्बई में डा0 सत्यदेव दूबे के निर्देशन में चलने वाली नाट ्य संस्था 'थियेटर यूनिट' (शुतुरमुर्ग, आधे–अधुरे)[1] जयपुर का रवीन्द्र रंगमंच (शुतुरमुर्ग)[2] कानपुर की संस्था दर्पण (मिनिस्टर अभिमन्यु)[3] इलाहाबाद का रंगमंच (पहला राजा)[4] वाराणसी की नागरी नाटक मण्डली (राणा अमर सिंह, मगरमच्छ, जलती चितायें, सही रास्तें) श्री नाट्यम् (अकेला शहर) आदि नाट्य संस्थायें हिन्दी रंगमंच के उत्थान में सक्रिय योगदान दे रही हैं।

वस्तुतः हिन्दी क्षेत्र के 35–40 वर्ष के नाटक और रंगमंच पर दृष्टि डाले तो 20 प्रदर्शन भी ऐसे न होंगे जो सम्प्रेषण की दृष्टि से सार्थक रंगानुभूति

---

[1] धर्मयुग, 20 अप्रैल, 1969 ई.
[2] वही, 23 फरवरी, 1969 ई.
[3] धर्मयुग, 23 नवम्बर, 1969 ई.
[4] नटरंग वर्ष 4, अंक 13 जनवरी मार्च 1970

प्रस्तुत कर सके हो। इसका मुख्य कारण यह है कि हिन्दी का कोई स्थाई रंगमंच में न था और आज भी हिन्दी का रंगमंच लचर एवं दिशाविहीन है। ऐसा प्रतित होता है कि हिन्दी रंगमंच को अपनी शैनी की खोज में वर्षो तक भटकना पड़ेगा। किन्तु आज के रंग निर्देशक यदि दृश्यबंध, प्रकाश योजना, गति–विज्ञान और अभिनय के सभी पक्षों में अन्वित खोज करे तो अवश्य ही हिन्दी रंग जगत् समृद्ध होगा उसमें नई उपलब्धियों का अविर्भाव होगा।

हिन्दी रंगमंच पर पाश्चात्य प्रभाव

हिन्दी रंगमंच के विकास के आरम्भिक चरण में ही उसका सामना एक ऐसे व्यवसायिक रंगमंच से हुआ। जिसका प्रभाव जागरूक हिन्दी नाटककार न चाहते हुये भी बीसवीं सदी के चौथे दशक तक अनजाने ही ढोता रहा। स्वतंत्रता से पूर्व का लगभग सम्पूर्ण हिन्दी नाट्य सृजन पारसी प्रभाव से आक्रान्त रहा।

कोई भी नाटककार समकालीन रंगमंच की पूरी तरह अवहेलना करके किसी काल्पनिक रंगमंच के संदर्भ में नाट्यकृति का सृजन नहीं कर सकता। प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उसके सामने तत्कालीन रंगमंच की रूपरेखा ही नाट्यशिल्प की पृष्ठभूमि में होती है। अतः हिन्दी के निजी रंगमंच के अभाव में पारसी रंगमंच के समकालीन हिन्दी नाटककारों की कृतियों में पारसी–थियेटर का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। पात्र हंसते हैं तो 'हा, हा, हा, हा' करके रोते हें तो चीखें मारते हुये और भावना मे बहकर बात करते हैं तो इतने भावुक कि गला भर आता है, आवाज भी स्पष्ट सुनाई नहीं देती–इस प्रकार की चेष्टाओं से हिन्दी में नाटक को रूप देने की शैली पारसी रंगमंच से ही प्रभावित थी। स्थान–स्थान पर नृत्य और गीतों की योजना, रोमांचित कर देने वाले संवाद हिन्दी नाटक पर भी अपनी अमिट छाप छोड़ गये। पात्रों का अर्न्द्वन्द्व दिखाये बिना ही बड़े सहज रूप से चमत्कारी कार्यव्यापारों द्वारा घटनाचक्र को आगे बढ़ा देने वाली पारसी मंच शैली का (घातक) प्रभाव हिन्दी

रंगमंच पर भी हुआ। पारसी रंगमंच की भर्त्सना करने वाले स्वयं प्रसाद के नाटक एक भिन्न स्तर पर उससे विमुख न रह सके। नेमिचन्द्र जैन ने पारसी रंगमंच का प्रभाव, जयशंकर प्रसाद के नाट्य शिल्प पर स्वीकार करते हुए लिखा है–

"प्रसाद के नाटक एक भिन्न स्तर पर पारसी रंगमंच की ही बुनियाद पर अड़े हैं, उनका कार्य व्यापार का विन्यास, दृश्यसंयोजन, रूपबंध, सब कुछ पारसी की रूढ़ियों और व्यवहारों से निर्धारित हुआ है।"[1] पारसी रंगमंच का हिन्दी रंगमंच पर प्रभाव के संदर्भ में नेमिचन्द्र का कथन है कि "पारसी–रंगमंच ने हिन्दी रंगमंच के विकास और स्वरूप पर बड़ी गहरी छाप छोड़ी है और परवर्ती काल के पृथ्वी थियेटर्स और समसामयिक कलकत्ते की मूनलाइट कम्पनी तथा लगभग उन्हीं आदर्शों और मूल्यों को अभिव्यक्त करने वाला दिल्ली का थ्री आट्स क्लब अथवा हिन्दी प्रदेश के विभिन्न नगरों और कस्बों के नाट्यदल, उसी परम्परा को अधूरे अशक्त रूप में बार–बार अभिव्यक्त करते रहते हैं।[2]

स्वातंत्रोत्तर हिन्दी रंगमंच पर शेक्सपीयर, इलियट, इब्सन, शा, चेखव, ओनील, आइनेस्को, सार्त्रे, बैकेट, स्ट्रीगंबर्गन, एनुई और ब्रेष्ट का प्रभाव अत्यंत उल्लेखनीय है। चेखव और इब्सन के नाटक रंगमंचीय दृष्टि से अत्यंत संवेदनशील है और हिन्दी रंगकर्मी की प्रौढ़ता के लिये उनका ज्ञान अपरिहार्य है। "हिन्दी रंगमंच पर अभी तक इब्सन या चेखव के सूक्ष्म संवेदनशील अभिव्यंजनापूर्ण प्रदर्शन नहीं हुये है। उन अथवा उन जैसे नाटकों के प्रयास के अनुभव के बिना हिन्दी रंगकर्मी अभिव्यक्ति की कोई प्रौढ़ता प्राप्त कर सकता है इसमें संदेह है।[3] ब्रेष्ट के नाटकों में यथार्थ का इतना सूक्ष्म प्रदर्शन है कि उनको किसी भी रूप में नकारा नही जा सकता। यथार्थ चरित्र और रंगशिल्प

---

[1] नेमिचन्द्र जैन : रंगदर्शन पृ0 198
[2] वही, वही, पृ0 199
[3] वही, पृ0 203

की उत्कृष्टता ब्रेष्ट के नाटकों को रंगमंचीय बनाने में अत्यंत सफल हैं ब्रेष्ट के रंगमंच से हिन्दी रंगमंच भी अछूता न रहा।

अभिनय नाटक : अभिनेयता के लक्षण

नाटक ऐसा क्रीडनीयक या मनोरंजन का साधन है जो दृश्य भी है तथा श्रव्य भी। अतः उसकी रचना इस प्रकार दृश्यात्मक और श्रव्यात्मक तत्वों से सम्पन्न की जानी चाहिए कि रंगमंच पर विभिन्न रूचि वाले दर्शकों के सम्मुख नटों द्वारा उसका प्रयोग किया जा सके।

नाटक की सार्थकता इसी में है वह रंगमंच पर प्रस्तुत होकर सफलता प्राप्त करे। उसके लिये रंगमंच पर किसी प्रकार प्रस्तुत किया जाना ही पर्याप्त नहीं है। उसका सफल होना, विभिन्न रूचि वाले दर्शकों के द्वारा सराहा जाना नितान्त अपेक्षित है क्योंकि नाटक उन्ही के लिये लिखा जाता है और वे ही नाटक के वास्तविक रस–ग्रहीता होते हैं। महाकवि कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र नाटक की प्रस्तावना में ही स्पष्ट कर दिया है कि केवल किसी प्रसिद्ध पुराने नाटककार द्वारा लिखा जाना ही नाटक की श्रेष्ठता की कसौटी नहीं है।[1] उसके लिये परम आवश्यक यह है कि विद्वान लोग स्वयं उस नाटक का प्रयोग देखकर संतोष व्यक्त करें। 'जब तक विद्वान लोग सन्तुष्ट न हो तब तक किसी नाट्य प्रयोग को सफल और अच्छा नहीं कहा जा सकता क्योंकि अभिनेता गण चाहे जितने भी परिश्रम से शिक्षित क्यों न किये गये हों फिर भी उन्हें अपनी कला पर विश्वास नहीं होता।[2] उन्हें अपनी कला पर तभी विश्वास होता है जब नाट्य शास्त्र के विद्वान, अभिनय कला के पारखी, रस–सिद्ध पुरूष और दर्शक उसकी प्रशंसा करें।

---

[1] पुराणमित्येव न साधु सर्व न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः।।

– मालविकाग्निमित्रः प्रस्तावना

[2] आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोग–विज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः।।

– अभिज्ञान शाकुन्तलः प्रस्तावना

इसका तात्पर्य यह है कि नाटक के अभिनेता और प्रयोक्ता की सफलता इसी बात पर निर्भर होती हैं कि उनका प्रयोग दर्शकों को कहां तक प्रभावित और परितुष्ट कर सका है।

नाटककार को तीन दृष्टि से और 3– प्रयोक्ता की दृष्टि से। विशेषतः इस दृष्टि से कि नाटकों के दर्शक सभी वर्गों, प्रवृत्तियों, रूचियों और व्यवसायों के लोग होंगे। नाटककार को इस विश्वास के साथ चलना चाहिए कि नाट्य प्रयोक्ता भी सामान्य रंगमंच पर सुगमता के साथ प्राप्त होने वाले साधनों और अभिनेताओं के द्वारा नाट्य प्रयोग की योजना करेंगे और अभिनेता भी सामान्य विद्या–बृद्धि के होंगे और अव्यवसायिक नाट्य मंडलियों में तो अनेक या सभी अभिनेता व्यक्तिगत रूप से विभिन्न प्रकार के व्यवसायों में लिप्त होंगे जो न तो साहित्य के पंडित होंगे और न नाट्य कला के विशेषज्ञ। विशिष्ट नाट्य मंडलियों या रंगमंचों के लिये लिखे जाने वाले नाटकों में अधिक जटिल अभिनय–कौशलों तथा दृश्य योजनाओं का समावेश किया जा सकता है किन्तु ऐसे नाटक विशेष रंगमंचों के लिए ही उपयुक्त होते हैं, व्यापक रूप से सामान्य रंगमंचों के लिये नहीं। उनका अपना अलग महत्व होता है जिसकी अपेक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि ऐसे व्यवसायिक रंगमंच ही प्रायः अव्यावसायिक रंगमंचों के लिये भी आदर्श होते हैं और उन विशिष्ट प्रकार के रंगमंचों के लिये लिखे हुये नाटकों का अध्ययन करने से ही उनके उपयुक्त रंगमंच का परिज्ञान करना सरल हो जाता है और उसके आदर्श पर विशिष्ट रंगशालाओ के निर्माण और नाटक–रचना की प्रेरणा भी मिलता है।

अभिनेयता के लक्षण

इन विभिन्न दृष्टियों से विचार करने पर व्यापक रूप से सामान्य रंगशालाओं के लिये लिखे जाने वाले नाटकों की अभिनेयता के लक्षणों में निम्नाकिंत तत्वों की उपस्थिति पूर्णतः अनिवार्य है।

1— कम तथा महत्वपूर्ण पात्र

अभिनेय नाटक का पहला लक्षण यह है कि पात्रों की संख्या कम हो और उन पात्रों में भी ऐसे पात्रों का सन्निवेश न हो जो सरलता से सर्वत्र प्राप्त न हो सकें, जैसे बौने, बहुत स्थूल, बहुत लम्बे, अष्टावक्र अथवा विशिष्ट प्रकार की मुख मुद्रा वाले। मुखमुद्रा में सामान्य परिवर्तन तो नेपथ्य–कर्म तथा मुखराग से भी संभव हो जाता है किन्तु विशेष प्रकार की मुद्रा या आकार के मुख वाले व्यक्ति सुविधा से प्राप्त नहीं होते। पात्रों की संख्या इसलिये भी कम रखनी चाहिये कि उनका मुखराग, उनकी वेशभूषा और साज सज्जा का भार भी अधिक न हो और उन पात्रों का पारस्परिक सम्बन्ध और चरित्र समझना भी दर्शकों के लिये सुगम हो यदि अधिक पात्र होंगे तो उनके लिये अधिक वेशभूषा तथा उपादानों की आवश्यकता पड़ेगी तथा उनका पारस्परिक सम्बन्ध समझना और कथा में उनकी स्थिति समझना दर्शकों के लिये कठिन होगा। हीन पात्रों की भूमिकायें ग्रहण करने के लिये अभिनेता प्राप्त न होने की समस्या का भी इससे समाधान हो जायेगा।

नाटक में जितने भी पात्र रखे जांय उन सबकी भूमिका भी कथावस्तु के प्रसार में महत्वपूर्ण होनी चाहिए अर्थात् उनके संवाद या नाट्य–व्यापार से नाटक की कथा गतिशील हो तथा पात्रों के चरित्रों का विकास हो, कोई पात्र ऐसा हीन और निरर्थक न हो कि उसके हटा या निकाल देने से नाटक के कथा प्रवाह में कोई अन्तर न आवे, प्रत्येक पात्र का इतना आवश्यक और अनिवार्य महत्व हो कि स्वयं अभिनेता को अपनी भूमिका के प्रति स्वाभाविक मोह और आसक्ति हो तथा उसे यह विश्वास हो कि नाटक की सफलता में मेरी भूमिका का भी महत्वपूर्ण योग है चाहे वह भूमिका प्रतिहार, सेवक, सखा, नागरिक, सैनिक, सखी, दूती या प्रतिहारीकी ही क्यों न हो।

2– सर्वबोध्य संगत, जोड़तोड़ के संवाद–

नाटक के संवाद या कथोपकथन बहुत लंबे, अनावश्यक गूढ़ार्थक, जटिल, लाक्षणिक, बहुत देर तक पारस्परिक शास्त्रार्थ या वार्तालाप के रूप में चलने वाले न हों क्योंकि दर्शकों के पास उनकी गूढ़ता समझते चलने के लिये अवकाश कहां होता है। इसलिये नाटक में जोड़–तोड़ के छोटे छोटे, प्रभावशाली आंगिक सात्विक और वाचिक अभिनय व्यापार से पुष्ट किये जा सकने योग्य ऐसे संवाद हो जिसे आंगिक, सात्विक और वाचिक अभिनय के लिये अधिक, संभावनायें तथा अवसर विद्यमान हो। इन संवादों के बीच बीच में दर्शकों के भावों का तनाव कम करने के लिये अवसर के उपयुक्त (अनावश्यक या बलपूर्वक नहीं) हास्य, व्यंग और विनोद से युक्त संवाद या व्यापार का पुट भी भरा हो। साथ ही क्रिया व्यापार अधिक हो, वाद विवाद, वार्तालाप और भाषणात्मक अंश कम हो। यथा संभव स्वगत, जनान्तिक, अपवारित तथा आकाश–भाषित आदि प्राचीन संवाद–पद्धतियों का अस्वाभाविक समावेश न हो और यदि हो तो उसकी स्वाभाविकता स्वयंसिद्ध हो। जोड़ तोड़ के संवाद इस प्रकार गठे हुये, सुसंयत, सुसंगत, स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक और भाव–संवाहक हो कि दर्शकों को उन संवादों के सहारे कथा की गति और पात्रों का चरित्र भी स्पष्ट प्रतीत होता चले और साथ ही वे भाषा तथा संवाद के कौशल का भी आनन्द लेते चले जिससे भावों का संस्कार होने के साथ साथ उनकी भाषा का संस्कार भी होता चले और उनकी वाणी को अभिव्यक्ति की नई विधियां, नये श्रोत और नवीन पथ प्राप्त होते चले।

3. दृश्य विधान

व्यापक रूप से सामान्य रंगमंच के लिये लिखे हुये नाटकों में दृश्यों का क्रम इस प्रकार व्यवस्थित और क्रमागत होना चाहिए कि यदि आगे के दृश्य में किसी प्रकार का परिवाप अथवा दृश्यपीठ न लगा हो अर्थात् उस दृश्य में कोई भी ऐसी सामग्री न हो जिसे अभिनेता दृश्य समाप्त हो जाने पर वहां छोड़कर

चले जाने वाले हो (जैसे मेंज, कुर्सी, पीढ़ा, आसन, गमला आदि) तो उसके पीछे ऐसा गहरा दृश्य दिखाया जा सकता है जिसमें दृश्यपीठों का तथा परिवाप समुचित और प्रभूत संयोजन किया जाने वाला हो। किन्तु इस प्रकार के बहुसज्जा –सामग्री वाले दृश्य के आगे पुनः ऐसा दृश्य अवश्य होना चाहिए जिस पर कोई परिवाप न हो और जिसके संवाद तथा अभिनय का परिमाण इतना अवश्य हो कि उस अवधि में पीछे लगा हुआ दृश्यपीठ हटाया जा सके और उसके बदले दूसरा दृश्य सजाया जा सके। रंगमंच की प्रकृति के प्रतिकूल दृश्य–विधान किस प्रकार के होते हैं उसका निम्नांकित उदाहरण प्रर्याप्त हैं।

"बरसात का दिन। प्रायः एक पहर दिन आ चुका है, लेकिन आकाश में घने बादल होने के कारण मालूम हो रहा है कि अभी सबेरा हो रहा है। डिप्टी कलेक्टर मुरारीलाल का बंगला, जिसमें एक बड़ा कमरा है जिसमें अंग्रेजी ढंग के एक दूसरे से लगे हुये सामने की ओर चार दरवाजे है। दरवाजे सभी खुले हुये हैं और कमरे में बीच में एक बड़ी मेज के चारों और लकड़ी की कुर्सियां रखी है। मेंज पर एक अंग्रेजी अखबार, एक तश्तरी में पान, इलायची और उसके पास ही गोल्ड फलेक की सिगरेट का एक डब्बा और दियासलाई पड़ी है। दूसरी ओर की दीवाल में दो आलमारियां है जिनमें मोटी–मोटी पुरानी किताबें रखी हें, किसी की जिल्द उखड़ गयी हे तो किसी के ऊपर के जिल्द का कपड़ा सड़ गया है और गन्दी दफ्ती दीख पड़ती है। कमरे के सामने मेहराबदार गोसवारा है। जिसके खम्भों का सीमेंट कहीं–कहीं उखड़ गया है और भद्दी ईंटे देख पड़ती है।[1]

इसमें बरसात का दिन, आकाश में घने बादल, अंग्रेजी ढंग के दरवाजे, भीतर कमरे की मेज पर अखबार, पान–इलायची, गोल्ड फ्लेक की ही सिगरेट तथा अन्य विधान किसी भी नाट्य प्रयोक्ता को संकट में डालने के लिये पर्याप्त हे। अंक परिवर्तन होने पर भी स्थान–परिवर्तन न करने की नई प्रथा

[1] सन्यासी, अंक –3, लक्ष्मीनारायण मिश्र।

नाट्य प्रयोक्ता के लिये सुविधाजनक है किन्तु वह दृश्य इस प्रकार के न हों। – "होटल का एक कमरा.....दुमंजिल पर ...सड़क की ओर–दो पहर। तेज धूप। कमरे के बाहर बरामदे में गमला। नजदीक ही मौलश्री का पेड़। उस पर रह–रहकर कोयल का बोल उठना।

"शहर की एक सड़क। दोनों ओर इमारते। आने वाली सवारियों की धूम। एक आदमी डुग्गी पीटकर नोटिस बांट रहा है–'मतृ–मंदिर का उद्घाटन।..... ।"[1]

"शहर की एक सड़क दोनों ओर इमारते आने वाली सवारियों की धूम रंगमंच पर दिखलाना नाट्य–प्रयोक्ता के लिये कभी सम्भव नहीं है।

इससे भी अधिक जटिल दृश्य निम्नांकित है–

"बहुत बड़ा पार्क – जहां तक नजर पहुंचे पेड़–पौधे, पुल, उसके बीच में आलीशान इमारत। पार्क के हर एक कोने से इमारत तक साफ चिकनी सड़के। सड़कों के किनारे छोटे किन्तु छायादार पेड़–कोई हरे और कोई फूलों से लाल–सफेद और पीले। सब कुछ हराभरा सुहावना, सामने से इमारत पर नजर डालने पर सुन्दर मेहराब। उसपर सुनहले अक्षर में एशियाई संघ का भवन।"[2]

रंगपीठ की मीलों लम्बा और चौड़ा बांसों ऊंचा बना डालने पर ही वह दृश्य–योजना की जा सकती है जो व्यवसायिक रंगशाला के लिये भी असम्भव है।

---

[1] सन्यासी, अंक–3 का गर्भांक
[2] सन्यासी अंक–3 का गर्भ–दृश्य

एक और उदाहरण दृष्टव्य है–

"सड़क के किनारे दो–मंजिला बंगला, बंगले से सड़क तक थेड़ी सी जमीन, उसमें छोटा सा बगीचा। सड़क से बंगले तक पतली सड़क। उस पर उभरे हुये कंकर और घास। बंगले की सड़क के दोनों ओर फूलों के पौधे।..... .बंगले की ओर देखने से यो तो बंगले की बनावट अच्छी है, खिड़कियां और दरवाजे अच्छी लकड़ी अच्छे शीशे के हैं दिवाल भी जहां तक देख पड़ती हैं रंगी हुई, लेकिन जैसे यहां वर्षों से सफेदी–रंगाई और पालिश नहीं हुई है। सुन्दर चीजें भी अगर येां बेमरम्मत या लापरवाही से रख्खी जाती है तो भयंकर हो उठती हैं। वही हालत इस बंगले की है। इस बंगले को देखते ही इसमें रहने वालों की हालत पर मनुष्य में जो सबसे बड़ी कमजोरी या सबसे बड़ा विकार है, जिसे साधारण मनुष्य की भाषा मे दया या सहानुभूति कहते हैं, जाग उठती है।..... ।"

यह दृश्य अपनी दुस्साध्यता का डंका स्वयं पीट रहा है।

सामान्य रंगमंचों की बात तो दूर रही, चक्रिल रंगमंच, यन्त्राश्रित परिवर्तनशील दृश्योवाले रंगमंच, संपर्क रंगमंच (शिफ्ट स्टेज) तथा कर्तनीमंच (सीजर स्टेज) के लिय लिखे जाने वाले नाटकों पर भी इस प्रकार के दृश्य नहीं दिखाये जा सकते। सामान्य नाटक में या सामान्य रंगमंच के लिये लिखे हुये नाटकों में एक साथ कई गहरे परिवाप–सज्जित दृश्यों की जो योजना की जाती है वहां सामान्य नाट्य–प्रयोक्ता को दृश्य विधान में इन असुविधाओं का समाधान करने के लिए दर्शकों की तालियां, सीटियां और तर्जनों से बचने के लिये असम्बद्ध प्रहसन, अनर्गल गीत अथवा अनावश्यक नृत्य की योजना करके उस दोष का परिहार करने को बाध्य होना पड़ता है।

4. रंगमंच की व्यवस्था

बार–बार पर्दा गिरने और उठने से रंगमंच–व्यवस्था अस्वाभाविक और जी उबाने वाली हो जाती है । रंगमंच की व्यवस्था में दर्शकों को कभी ऐसा प्रतीत होना चहिये कि हमलोग किसी संग्रहालय या जादूघर में पहुंच गये हैं। जिस स्वाभाविक क्रम के साथ नाटक की कथा चलती है उसी क्रम से रंगमंच पर दृश्यों का क्रम भी चलते ही रहना चाहिये। कला का काम है जीवन को जगा देना, दर्शक के मन को ऐसा उलझाये रखना कि उसके प्रवाह में अर्थहीन आघात न हो। इसी कारण इस युग में रंगमंच की स्वाभाविकता पर बहुत ध्यान दिया जाने लगा है चाहे वहां तथ्य वादी (रिप्रेन्टेशनल) शैली में नाटक खेला जाय या प्रस्तुति–कौशलंवाला (प्रेजेटेन्शनल) हो। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने नाटक में गीत की योजना के सम्बन्ध में लिखा है– "नाटक में गीत रखना बहुत जरूरी नहीं। कभी–कभी तो गीत समस्याओं के प्रदर्शन में बाधक हो उठते हैं। इस युग में नाटक का उद्देश्य मनोरंजन की बेहूदी धारणा से आगे बढ़ गया है। नाटक में गीत का पक्षपाती वही तक हूं जहां तक इसे जीवन में देख जाता हूं। जिस किसी चरित्र का स्वाभाविक झुकाव मै संगीत की ओर देखूंगा उसके द्वारा दो–चार गीत गवा देना मैं मुनासिब समझूंगा।[1]

इसके विपरीत कुछ ऐसे भी नाटककार है जो धुंआधार असम्बद्ध आवश्यक अनावश्यक सभी स्थलों पर गीत भरते चलते हैं। किन्तु ये दोनों ही परिस्थितियां श्लाघनीय नहीं है। यह कहना नितान्त भ्रामक और अलमेल है कि नाटक उद्देश्य मनोरंजन की बेहूदी धारणा से आगे बढ़ गया है। नारट मूलतः मनोरंजन का साधन है किन्तु उसकी योजना संगत ओर विवेकपूर्ण ही होनी चाहिए। अभिनव–भरत आचार्य पंडित सीताराम चतुर्वेदी ने अपने अभिनव–नाट्यशास्त्र में गीत के अवसर और प्रयोग के सम्बन्ध में अत्यंत विशद

---

[1] मुक्ति का रहस्य, भूमिका।

विवरण दिया है।[1] अभिनय दर्पणकार नन्दिकेश्वर ने लिखा हे कि नाट्य और नृत्य तो किसी विशेष पर्व पर आयोजित करना चाहिए किन्तु नृत्त तो राज्याभिषेक, महोत्सव, यात्रा, देवयात्रा, विवाह, प्रिय मिलन, नगर और भवन में प्रवेश, पुत्र जन्म तथा सभी मंगल अवसरों पर आयोजित करना चाहिए।[2]

नाटकों में निम्नलिखित अवसरों पर भी पात्रों द्वारा गीत का प्रयोग कराया जा सकता है–

1. एक पात्र अकेले बैठे हुये बहलाने के लिये गाता हो।
2. अकेला पात्र गीत या वाद्य सीख रहा हो या सिखा रहा हो।
3. पर्व या उत्सव पर कई पात्र एक साथ गा रहे हों।
4. पर्व मंगल कार्य, उत्सव या देवकार्य पर बहुत लोगों के बीच एक या अनेक पात्रों द्वारा गायन।
5. प्रेम–मिलन अथवा प्रेमाचार के अवसरों पर तथा वियोगास्था में जी बहलाने के लिये या प्रिय की स्मृति में गीत गवाया जा सकता है।
6. चक्की पीसने, झूलने, पुरवट चलाने, छत पीटने, सड़क कूटने आदि अवसरों पर श्रम मिटाने के लिये गीत।
7. देवताओं की स्तुति, भजन, कीर्त्तन तथा मंगल गान।
8. नाट्यारम्भ का गीत

---

[1] अभिनव–नाट्यशास्त्र पृ0 533–540 (द्वितीय संस्करण)

[2] द्रष्टव्ये नाट्यनृत्ये च पर्वकाले विशेषतः
नृत्तं त्वत्रं नरेन्द्राणामभिशेके महोत्सव
यात्रायां देवयात्रायं विवाहे प्रियसंगमें।।
नगराणामगाराणां प्रवेशे पुत्रजन्मनि।
शुभार्थिभिः प्रयोक्तव्यं मांगल्यं सर्वकर्मसु।।

– अभिनय–दर्पण– 1,12–14

9. विशेष ऋतू के अनुकूल गीत।

10. भिक्षा मांगते समय।

11. किसी काव्य से कथा गीत गाना जैसे, रामचरित मानस या आल्हा का पाठ।

12. सेना या सैन्य–कल्प दल के अभियान अथवा युद्ध के समय उत्साह दिलाने वाले गीत जैसे कड़खा।

13. उपदेश के लिये गीत जैसे संत या भक्त कवि गाते थे।[1]

अवसर के निर्देश के अतिरिक्त अभिनव भरत ने यह भी निदेश दिया है कि संगीत का प्रयोग नाटक में कितने प्रकार से किया जा सकता है।[2]

इसकी व्याख्या करते हुए निम्नांकित संगीत योजना प्रकारों का उल्लेख किया गया है–

1. अकेला व्यक्ति बिना वाद्य के गाता हो।

2. अकेला व्यक्ति वाद्य के साथ गाता हो।

3. अकेला व्यक्ति बारी–बारी से गाता और बजाता हो।

4. अकेला व्यक्ति नृत्य (भाव प्रदर्शन), नृत्त (ताल–लय के साथ अंग संचालन और वाद्य के साथ गाता हो।

5. एक व्यक्ति दूसरे के साथ गाता हो।

6. दो या अधिक व्यक्ति एक साथ मिलकर गाते हो।

---

[1] अभिनव नाट्यशास्त्र, पृ. 535–536
[2] अभिनव नाट्यशास्त्र, पृ. 535–536

7. दो अधिक व्यक्ति संवादात्मक गीत गाते हों अर्थात् ऐसा गीत जिसमें एक कड़ी एक कहता हो, दूसरी कड़ी दूसरा।

8. बहुत से लोग मिलकर ऐसा गीत गाते हो जिसमें एक व्यक्ति एक पंक्ति कहता हो, शेष उसका अनुवर्तन करते हों।

9. गाले वाले दो दल बारी बारी से एक ही पंक्ति गाते हों।

10. संगीत की शिक्षा देते समय गुरू सिखाता हो और शिष्य शिक्षा के अनुसार गाते हों।

11. लोगगीत, जिसमें स्त्रियां अथवा पुरूष, विशेष अवसर के उपयुक्त ढोल–मजीरा आदि वाद्य लेकर विशेष योजना और उपचार के साथ नाचते या गाते हो जैसे होली पर।

12. नृत्यगीत, जैसे गुजरात में गरबा नृत्य।

13. श्रमगीत जैसे पुरवट चलाने, चक्की पीसने या सड़क कूटने के समय पुरूष और स्त्रियां श्रम मिटाने के लिये गीत गाती हैं।

14. पर्वोत्सव गीतः विवाह तथा धर्मिक पर्व आदि उत्सवों पर गाये जाने वाले गीत।

15. स्तोत्रगीतः : विशेष देवता को प्रसन्न करने के लिये विशेष अवसरों पर जो गीत गाये जाते हैं, जैसे– देवी का गीत।

16. ऋतृगीत : जैसे सावन में हिंडोला या कजली और चैत में चैती आदि।

17. भिक्षागीत : जिसका प्रयोग भिक्षुक लोग करते हैं। यह कभी सवाद्य और कभी अवाद्य होता है।

18. कथागीत : जैसे, अल्हा या रामचरितमानस का गायन।

19. कोलाहल गीतः जिसमें बहुत से लोग मेले आदि के दृश्य में एक साथ गाते, नाचते दिखाये गये हों।

20. विलाप गीत जैसे पंजाब या गुजरात का सियापा, जो किसी के निधन पर विशेष राग में उसके गुणकीर्त्तन के छाथ छाती पीटकर रोते हुए गाया जाता है। पंजाब का स्त्रियों का और गुजरात में पुरूषों का शिक्षित रोदन–कुशल मंडल ही रहता है।

21. अभिनय गीत–वाद्य : जो सेना की संचरण गति के अनुसार गाया–बाजाया जाता है।

22. युद्ध में योद्धाओं को उत्साह देने के लिये चारणों कें गीत या कड़खा।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी विशेष अवस्थायें होती है जिनमें गीत का प्रयोग होता है जैसे, सभा–गीत अर्थात् किसी मंगलोत्सव पर किसी अच्छे रवैये या गायिका को बुलाकर गीत का आयोजन करना। इसी प्रकार गोष्ठी–गीत भी है जिनमें कुछ मित्र मिलकर अपने मनोरंजन के लिये किसी का गीत गाते या सुनते हैं। इन्हीं के साथ आजकल स्नान–घर संगीत तथा स्वेच्छा राग अलापना या गुनगुनाना भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संगीत की अवस्था में गिना जाने लगा है और इनका प्रयोग भी नाटकों में यथास्थान किया जाने लगा है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि नाटक में गीत का अविबाहुल्य नहीं होना चहिए क्योंकि बाहुल्य हो जाने से ऐसे प्रसंगो पर भी गीतों की योजना कर दी जाती है जो न उचित प्रतीत होते हैं और न स्वाभाविक। अधिक गीत रखने और पात्रों द्वारा गीत गवाने की योजना करने से एक असुविधा यह भी होती है कि जैसे नाटकों के लिये उपयुक्त स्त्री–पात्रों का मिलना कठिन होता है उसी प्रकार गायक–पात्रों का मिलना भी बहुत कठिन होता है। आजकल पृष्ठ गायन

(प्लेबैक सिंगिग) के द्वारा कभी–कभी इस त्रृटि की पूर्ति तो हो जाती हे किन्तु चलचित्र में ही उसका समुचित निर्वाह हो पाता है, रंगमंच पर ओठ चलाने वाला अभिनेता तत्काल दर्शकों की दृष्टि की पकड़ में आ जाता है और वह अत्यंत अशोभनीय और अभद्र प्रतीत होने लगता है। अतः गीतों का समावेश केवल वहीं पर किया जाय जहां वे आवश्यक, अनिवार्य, स्वाभाविक, प्रासंगिक संगत और अभिनेता की प्रकृति तथा कथा में आयोजित स्वाभाविक अवसर के उपयुक्त हों। यही नियम नृत्य के लिये भी अपेक्षित है। शेक्सपीयर के रोमांचकारी नाटकों की इसीलिये निन्दा की है कि उनके द्वारा हत्या, षड्यंत्र और अनाचार को प्रोत्साहन मिलता है।

6. शील निर्वाह

अभिनेय नाटक का महत्वपूर्ण लक्षण यह भी है कि उसमें कहीं भी, किसी प्रकार, किसी व्यक्ति, समाज, वर्ग, धर्म, सम्प्रदाय या देश पर आक्षेप न हो, उनकी निन्दा न हो और उसके अन्तर्गत संवाद या व्यापार में किसी भी प्रकार की ऐसी सम्भावना निहित न हो कि कोई असंयत अभिनेता अपने किसी शब्द, वाक्य भावभंगी या व्यापार से कोई ऐसा परिस्थिति या भावना उत्पन्न करे जो लोकशील, शिष्टता और लोकमर्यादा के विरूद्ध हो अथवा जिसे सभ्य समाज निन्द्य, ग्राम्य या अश्लील समझकर नाकभौंह सिकोड़े, हैं जिन पर इस प्रकार के कुत्सित अभिनय–व्यापार, वाक्य प्रयोग, आंगिक चेष्टा, मुख मुद्रा अथवा भाव भंगी से प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है और जिसे वे अपने माता, पिता या अन्य गुरूजनों के साथ देखने में ब्रीड़ा का अनुभव कर सकते है। प्रायः व्यावसायिक नाट्यमंडलियों में लोकशील की बहुत उपेक्षा की जाती है। प्रायः नाट्यमडली वाले जन–सामान्य द्वारा बजाई हुई तालियों को ही अपनी सफलता की कसौटी मानकर इतने उत्साहित हो उठते हैं कि उस प्रकार के ग्राम्य व्यापारों, क्रियाओं, ग्राम्य संवादों तथा उक्तियों का समावेश करना तथा उनकी आवृत्ति करना ही वे अपने नाटकों की सफलता का चरमोत्कर्ष समझ

बैठते हैं। हिन्दी के अधिकांश व्यावसायिक रंगमंचों पर खेले जाने वाले नाटकों की इसीलिए साहित्यिक प्रसिद्धि नहीं हो पायी कि उन्होनें अपने अच्छे नाटकों में भी अपरिष्कृत रूचि वाले निम्नस्तरीय समाज के लोगों को संतुष्ट करने का अधिक प्रयास किया। यही कारण था कि महाकवि कालिदास रचित अभिज्ञानशाकुन्तल नामक नाटक के हिन्दी में रूपान्तरित प्रयोग के बीच में से यह कहकर डाक्टर थीबो और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र उठ आये कि 'अब देखा नहीं जाता, ये लोगा कालिदास के गले पर छूरी फेर रहे है।' यद्यपि नाटक वही था किन्तु अभिनेताओं ने अपनी असंयत चेष्टाओं से उसे विकृत कर डाला था।

7. सरल, संक्षिप्त, व्यावहारिक रंग–निर्देश

नाटक का रंग निर्देश इतना सरल, स्पष्ट और संक्षिप्त होना चाहिए कि उसके द्वारा अभिनेता और नाट्य प्रयोक्ता को अभिनय की सीमा जानने और साधन जुटाने की सुविधा हो। अभिनव भरत ने अपने अभिनव–नाट्य शास्त्र में विस्तार से समझाया है कि अभिनेता, रंग व्यवस्थापक, प्रकाश व्यवस्थापक, संगीत व्यवस्थापक, नेपथ्य व्यवस्थापक तथा नाट्य प्रयोक्ता के लिये किस प्रकार नाटक में रंगनिर्देश दिये जांय।[1]

यदि नाटककार ने किसी विशेष प्रकार के रंगमंच या विशेष वर्ग के दर्शकों के लिये नाटक लिखे हों तो उसका भी स्पष्ट निर्देश प्रारम्भ में कर देना चाहिये और यथासम्भव अपने नाटक के दृश्यविधान, रंगविधान संगीत–विधान तथा प्रकाश विधान का समुचित परिचय भी प्रारम्भ या अन्त में दे देना चाहिये जिससे नाट्य प्रयोक्ता को रंगमंच की प्रकृति और मर्यादा समझने में सुविधा हो और वह उस नाटक के लिये वैसे रंगमंच की व्यवस्था कर सके। यदि नाटक विशेष वर्ग के दर्शकों के लिये ही लिखा गया हो तो उसका भी निर्देश करना आवश्यक है जिससे नाट्य प्रयोक्ता उसी वर्ग के दर्शकों के लिये नाटक का प्रयोग करे। इस प्रकार का निर्देश भी आवश्यक है।

---

[1] अभिनव नाट्यशास्त्रः सीताराम चतुर्वेदी पृ0 495

नाटककार को अपने नाटक मे ऐसी वेषभूषा या आहार्य अभिनय के लिये निर्देश नहीं देना चाहिए जिन्हें प्राप्त करना असम्भव या दुःसाध्य हो, या जिनके रूप, बनावट और आकार का सामान्यतः लोगों को ज्ञान न हो, जैसे यदि यह दिया गया हो कि 'जापानी वस्त्र पहने अमुक पात्र प्रवेश करता है। अथवा पार्का (एस्किमो का वस्त्र) पहले अमुक पात्र प्रवेश करता हैं तो सामान्य ही नहीं, असमान्य नाट्य प्रयोक्ता के लिये भी वेशभूषा की कल्पना करना सम्भव न होगा। सामान्य नाट्य मंडलियां ही नहीं, व्यावसायिक नाट्य मंडलियां भी नाट्य–कथा कालीन वेशभूषा का उचित परिज्ञान न होने के कारण अपने–अपने देश की वेशभूषा के अनुसार अथवा उसमें कुछ थोड़ा हेर फेर करके वेशभूषा बना लेते हैं। अतः नाटककार का धर्म है कि वह निश्चित रूप से पात्रों द्वारा पहने जाने वाली वेशभूषा की कल्पना करना सम्भव न होगा। सामान्य नाट्य मंडलियां ही नहीं, व्यावसायिक नाट्य मंडलियां भी नाट्य कथा कालीन वेशभूषा का उचित परिज्ञान न होने के कारण अपने–अपने देश की वेशभूषा के अनुसार अथवा उसमें कुछ थोड़ा हेर फेर करके वेशभूषा बना लेते हैं। अतः नाटककार का धर्म है कि वह निश्चित रूप से पात्रों द्वारा पहने जाने वाली वेशभूषा ऐसी सरल रखे जो प्रायः सर्वत्र सुलभ हो और यदि विशिष्ट वेशभूषा ही अपेक्षित हो तो वह अधिक व्यय साध्य न हो और उसका भी स्पष्ट परिचय चित्र के साथ देना चहिये जैसा अभिनव भरत ने अपने पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों में दिया है।

रंग–निर्देश या नाट्य निर्देश स्पष्ट, सरल और संक्षिप्त भाषा में होना चाहिए और निर्देश ऐसे हो जिनका पालन करना नाट्य प्रयोक्ता, अभिनेता, रंग व्यवस्थापक, संगीत–व्यवस्थापक, तथा प्रकाश–व्यवस्थापक सबके लिये सुलभ, सुबोध्य और सुगम हो। बहुत से नाटककारों ने ऐसे–ऐसे विचित्र नाट्य निर्देश दिये हैं कि न उनके अनुसार दृश्य–योजना हो सकती, न पात्र योजना और न अभिनय व्यापार। व्यवस्था के सम्बन्ध में नाट्य–प्रयोक्ता को पर्याप्त छूट देनी चाहिए। नाट्य दृश्य के कक्ष में किसी विशेष्ज्ञ रंग का ही सोफा हो, विशेष रंग

का ही फूलदान हो, विशेष प्रकार के ही पर्दे हो, ऐसा निर्देश कभी नहीं करना चाहिए। यदि नाटक की कथा के प्रवाह और प्रसार के लिये विशेष प्रकार की वस्तु, विशेष प्रकाश अथवा अन्य उपादान अनिवार्य हो तो उसका निर्देश अवश्य करना चाहिए किन्तु जिन उपादानों का नाटक की कथा के प्रवाह से कोइ सम्बन्ध न हो, उसके लिये निर्देश देकर नाट्य प्रयोक्ता को बांध देना सर्वथ अनुचित और अनुपयुक्त है।

8. नाटक का परिमाण अधिक न हो

नाटक इतना अधिक लम्बा न हो कि उसे देखने के लिये रातभर बैठना पड़े। अच्छे प्रभावशाली अभिनेय नाटक की अभिनय–अवधि कम से कम दो घंटे और अधिक से अधिक तीन घंटे होनी चाहिये, क्योंकि दो घंटे से कम अवधि के नाटक से दर्शकों की तृप्ति नहीं होती और तीन घंटे से अधिक बैठना कष्टकर होता है। नाट्यकला की दृष्टि से भी नाटक इतना बड़ा अवश्य होना चाहिये कि उसका फलागम तथा निर्वहण अनेक प्रकार के घात–प्रतिघातों के पश्चात् सम्पन्न हो और नाटक के नायक या नायिका अथवा अन्य पात्रों के चरित्र–विकास के लिये पर्याप्त अवसर समाहित हो। इसी प्रकार तीन घंटे की अवधि से अधिक का नाटक भी श्लाध्य नहीं होता क्योंकि अधिक बड़ा करने के लिये नाटककार का अनावश्यक रूप से अवांछित, असंगत और असम्बद्ध घटनाओं का समावेश करना पड़ता है जिससे नाटक का रस बाधित हो जाता है और दर्शक ऊबने लगते हैं। अतः नाटककार को प्रयत्न करके उतना ही बड़ा नाटक लिखना चाहिए जो दो से तीन घंटे की अवधि में इस प्रकार पूण्र हो जाय कि नाटक के अन्तग्रत समाविष्ट घटनाओं के घात–प्रतिघात अन्तर्द्वन्द्व और वाह्य द्वन्द्व से चरित्रों का उचित विश्लेषण और चित्रण हो तथा कथावस्तु का पूर्ण निर्वाह हो जाय।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि अभिनय नाटक में–

1. कम तथा महत्वपूर्ण पात्र हों ।
2. सर्वबोध्य, सुसंगत, जोड़–तोड़ के स्वाभाविक संवाद हो।
3. दृश्य विधान सरल, सर्वसुलभ तथा सुगमतापूर्वक योजनीय हों।
4. गीत–योजना अवसर–येाग्य, स्वाभाविक, आवश्यक तथा सर्वबोध्य हो।
5. बहुवृत्तिक रूचि वाले दर्शकों को तुष्ट करने का ध्यान रखा जाय। नाटक सुखान्त हो और आद्यन्त कुतूहल–भावित हो।
6. सामाजिक शील का ध्यान रखा जाय।
7. अभिनेता, नाट्य प्रयोक्ता, रंग व्यवस्थापक तथा प्रकाश–संगीत–नेपथ्य व्यवस्थापक के लिये जो रंग निर्देश दिये जाय वे सरल, संक्षिप्त और व्यवहारिक हों।
8. इस बात का विशेष ध्यान रखा जाय कि नाटक के प्रयोग में दो घंटे से कम और तीन घंटे से अधिक समय न लगे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नाटक की अभिनेयता का संयोजन दर्शक, अभिनेता और प्रयोक्ता की दृष्टि से करना चाहिए। दर्शक की दृष्टि से वही नाटक अभिनय है जिसकी कथा वस्तु सब दर्शकों की समझ में आ जाय, जिसमें जोड़–तोड़ के छोटे सुबोध और सरस संवाद हों, जिसके पात्र इतने कम हो कि उनका पारस्ज्ञपरिक सम्बन्ध दर्शकों के लिये स्पष्ट हो, नाटक आद्यन्त ऐसा कुतूहलपूर्ण हो कि उसका घटनाक्रम नाटकीय, आकस्मिक और अप्रत्याशित हो उसमें पर्याप्त हास्य विनोद और संगीत व्याप्त हो तथा जिसके आंगिक, वाचिक और सात्विक अभिनय की अधिक से अधिक संभावनायें हो तथा जिसके सब पात्र नाटक की दृष्टि से महत्वपूर्ण हों। प्रयोक्ता की दृष्टि से

वहीं नाटक अभिनेय हे जिसके दृश्यों का विधान करना, पात्र एकत्र करना, उनका मुख राग और वेशभूषा एकत्र करना तथा वृत्ति वाले दर्शकों को तृप्त कर सकना संभव हो। जब तक इन उपर्यकित तीनों दृष्टियें से नाटक नहीं लिखा जाता तब तक वह अभिनेय कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता।

****